दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में रविबाबू के १० निबन्ध संकलित हैं। इनमें से पहले ५ निबन्ध 'स्वदेश' से, छटा 'शान्ति निकेतन' से सातवाँ 'समूह' से तथा अन्तिम तीन 'कालान्तर' नामक पुस्तकों से संकलित किए गये हैं। भारत, भारतीय-संस्कृति एवं राष्ट्रीयता से सम्बन्धित रविबाबू के *ये निबन्ध मानव-मस्तिष्क को बौद्धिक विचार-सामग्री* देने में बेजोड़ हैं। इनसे न केवल ज्ञान-वृद्धि ही होगी अपितु वर्त्तव्या कर्त्तव्य के बारे में सही दिशा का निर्देश भी प्राप्त होगा इसमे सन्देह नहीं है।

सभी निबन्धों को मूल-बँगला से अनूदित किया गया है। भाषा-प्रवाह को भी ज्यों का त्यों रक्खा गया है। आशा है, पाठक इसे स्नेह पूर्वक अपनायेंगे।

—अनुवादक

सूची

प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता

फ्रेंच मनीषी गिजो ने यूरोपीय सभ्यता की प्रकृति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, वह हमारे विचार करने योग्य है। पहले उनका मत नीचे उद्धत करता हूँ—

वे कहते हैं, आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के पूर्वकाल मे, क्या एशिया, क्या अन्यत्र, यही क्यो, प्राचीन ग्रीस-रोम मे भी सभ्यता के बीच एक-मुखी भाव दिखाई पडता है। प्रत्येक सभ्यता जैसे एक ही मूल से निकली है एव एक ही भाव का आश्रय लेकर अधिष्ठित रही है। समाज के भीतर उसके प्रत्येक अनुष्ठान, उसके आचार-विचार, उसके अवयव विकास मे, उसी एक चिरस्थायी भाव का ही कर्तृत्व दिखाई पडता है।

जिस तरह ईजिप्त मे एक-एक पुरोहित का शासन तन्त्र सम्पूर्ण समाज पर अधिकार किए बैठा था; उसके आचार-व्यवहार मे, उसके कीर्तिस्तम्भो मे उसी का एकमात्र प्रभाव है। भारतवर्ष मे भी ब्राह्मण तन्त्र ने ही समस्त समाज को एक भाव से गठित कर दिया था।

समय समय पर इनके भीतर भिन्न शक्तियो का विरोध उपस्थित नही हुआ, यह नही कहा जा सकता, परन्तु वे सब कर्तृभाव के द्वारा परास्त हुई है।

इस प्रकार एक भाव के कर्तृत्व से भिन्न देश ने भिन्न प्रकार का फल प्राप्त किया था। समग्र समाज के भीतर इसी भाव के ऐक्य-वश ग्रीस ने अति आश्चर्यमय द्रुतवेग से एक अपूर्व उन्नति प्राप्त की थी। अन्य कोई भी जाति इतने थोडे समय मे ऐसी उज्ज्वलता प्राप्त नही कर पाई। परन्तु ग्रीस अपनी उन्नति के चरम मे उठते, न उठते ही जैसे जीर्ण हो गया। उसकी अवनति भी बडी आकस्मिक रही। जिस मूल-

भाव ने ग्रीक-सभ्यता मे प्राण-सचार किया था, वह जैसे रिक्त नि शेषित हो गई, और किसी नई शक्ति ने आकर उसे बल-दान अथवा उसके स्थान पर अधिकार नही किया।

दूसरी ओर, भारतवर्ष मे और ईजिप्त मे भी सभ्यता का मूलभाव एक था, परन्तु समाज को उसने अचल बनाये रखा, उसकी सरलता से सब कुछ जैसे एक मे मिल गया। देश ध्वस नही हुआ, समाज टिका रहा, परन्तु कुछ भी अग्रसर नही हुआ, सब कुछ एक जगह आकर बद्ध हो गया।

प्राचीन सभ्यता मात्र में ही एक-ना-एक कुछ का एकाधिपत्य था। उसने और किसी को भी समीप नही आने दिया, वह अपने चारो ओर बाधा-विपत्तियो को बाँधे रखता था। इसी ऐक्य, यही सरलता के भाव-साहित्य मे एव सब लोगो की बुद्धि चेष्टा के भीतर भी अपने शासन का विस्तार करता था। इसी कारण प्राचीन हिन्दू के धर्म और चरित्र ग्रथ मे, इतिहास मे, काव्य मे सर्वत्र एक ही चेहरा दिखाई पडता है। उनके ज्ञान मे एव कल्पना मे, उनकी जीवन-यात्रा मे एव अनुष्ठान मे यही एक ही ढङ्ग है। यही क्यो, ग्रीस मे भी ज्ञान-बुद्धि की विपुल व्याप्ति रहते हुए भी, उसके साहित्य मे और शिल्प मे एक आश्चर्यमय एक प्रवणता दिखाई पडती है।

यूरोप की आधुनिक सभ्यता इसके सम्पूर्ण विपरीत है। इस सभ्यता के ऊपर एक बार आँखें फिरालो, देखोगे, वह कैसी विचित्र जटिल एव विक्षुब्ध है। इसके अभ्यन्तर में समाजतन्त्र के हर प्रकार के मूलतत्व ही विराजमान है, लौकिक एव आध्यात्मिक शान्ति, पुरोहिततन्त्र, राजतन्त्र, प्रधानतन्त्र, समाज पद्धति के सभी पर्याय, सभी अवस्थायें विजडित होकर दृश्यमान है, स्वाधीनता, ऐश्वर्य एव क्षमता का सब प्रकार के क्रमान्वय ने इसके भीतर स्थान ग्रहण किया है। यह विचित्र शक्ति स्थिर नही है य सब स्वय अपने ही भीतर केवल लड रहे है। अथच, इनमे से कोई भी अन्य सबको अभिभूत करके समाज पर अकेला

अधिकार नही कर पाता है। एक ही समय मे सभी विरोधी शक्तियाँ चोपड-फांसे का काम कर रही हैं; परन्तु उनमे विचित्रता रहते हुए भी उनके भीतर एक पारिवारिक सादृश्य दिखाई देता है, उन सबको 'यूरोपीय' कह कर पहिचाना जा सकता है।

चरित्र, मत एव भाव मे भी इसी तरह का वैचित्र्य एव विरोध है। वे सब दिन-रात परस्पर का लघन करते हैं, आघात करते है, सीमावद्ध करते हैं, रूपान्तरित करते है एव परस्पर के बीच अनुप्रविष्ट होते हैं। एक ओर स्वातन्त्र्य की दुरन्त तृष्णा है, दूसरी ओर एकान्त वाध्यताशक्ति है; मनुष्य-मनुष्य मे आश्चर्यमय विश्वास-बन्धन है, अथच *समस्त शृंखला-मोचन पूर्वक विश्व के अन्य किसी के प्रति भ्रूक्षेपमात्र* न करके एकाकी स्वय की स्वेच्छानुसार चलने की उद्धत वासना है। समाज जैसा विचित्र है, मन भी वैसा ही विचित्र है।

फिर साहित्य मे भी वही वैचित्र्य है। इस साहित्य मे मानव-मन की चेष्टा बहुधा विभक्त है, विषय विविध है एव गभीरता दूरगामिनी है। इसीलिए साहित्य का वाह्य आकार और आदर्श प्राचीन साहित्य की भाँति विशुद्ध सरल और सम्पूर्ण नही है। साहित्य मे और शिल्प मे भाव की परिस्फुटता, सरलता और ऐक्य स ही रचना का सौन्दर्य उद्भूत होता रहता है। परन्तु वर्तमान यूरोप मे भाव और चिन्ता की अपरिसीम वहुलता से रचना के इस महत् विशुद्ध सारल्य की रक्षा करना उत्तरोत्तर कठिन हो रहा है।"

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के प्रत्येक अश मे, प्रत्यश मे हम लोग इसी विचित्र प्रकृति को देख पाते हैं। निस्सन्देह इसमे असुविधा भी है। इसके किसी एक अ श को पृथक् करके देखने पर शायद प्राचीन काल की तुलना मे खर्वता देख पायेंगे; किंतु समग्रभाव से देखने पर, इसका ऐश्वर्य हमारे निकट प्रतीयमान होगा।

यूरोपीय सभ्यता पन्द्रह सौ शताब्दियो से टिकी हुई है एव वरावर आगे वढती चली है। यह ग्रीक सभ्यता की तरह वैसे द्रुत वेग से नही

चल पाई है, परन्तु पग पग पर नये-नये अभिघात को प्राप्त होकर अभी भी यह आगे की ओर दौड रही है। अन्यान्य सम्यताओ मे एक भाव ने एक आदर्श के एकाधिपत्य मे अधीनता-बन्धन की सृष्टि की थी, परन्तु यूरोप मे कोई एक सामाजिक शक्ति अन्य शक्तियो को पूर्णरूपेण अभिभूत नहीं कर पाई एवम् घात प्रतिघात मे परस्पर को सचेतन अथच समत बनाय रखा, यूरोपीय सभ्यता मे स्वाधीनता का जन्म हुआ था। क्रमागत विवाद मे इन सब विरोधी शक्तियो ने आपस मे समझौता करके समाज मे अपना-अपना अधिकार निर्दिष्ट कर लिया था, इसीलिए ये सब परस्पर को उच्छेद करने के लिए सचेष्ट नही रहती एवम् विभिन्न प्रतिकूल पक्ष अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए चल पाते है।

यही आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की मूलप्रकृति है, यही इसका श्रेष्ठत्व है। गिजो कहते हैं, विश्व-जगत् के भीतर भी इसी वैचित्र्य का सग्राम है। यह सुस्पष्ट है कि कोई एक नियम, कोई एक प्रकार का गठनतन्त्र, कोई एक सरल भाव, कोई एक विशेष शक्ति, समस्त विश्व पर एकाधिकार करके, उसे एकमात्र कठोर साँचे मे डाल कर, समस्त विरोधी प्रभाव को दूर करके, शासन करने की क्षमता नही पाती। विश्व मे अनेक शक्तियाँ, अनेक तत्त्व, अनेक तन्त्र जडित होकर युद्ध करते हैं, परस्पर को गठित करते है, कोई किसी को पूर्णरूप से परास्त नही करता, पूर्णरूपेण परास्त नही होता।

अथच यह सब गठनतत्व और भावो के वैचित्र्य, उनका सग्राम और वेग, एक विशेष ऐक्य, एक विशेष आदर्श के सामने चले हैं। यूरोपीय सभ्यता ही इस तरह विश्वतन्त्र की प्रतिबिम्ब है। यह सकीर्ण रूप मे सीमाबद्ध एक रत और अचल नही है। ससार मे सभ्यता यही पहली बार अपनी विशेष मूर्ति को हटाकर दिखाई दी है। यही पहली बार इसका विकास विश्व-व्यापार के विकास की भाँति बहु विभक्त विपुल एव बहु चेष्टागत है। यूरोपीय सभ्यता न इस रूप मे

चिरन्तन सत्य के पथ को पाया है; उसने जगदीश्वर की कार्यप्रणाली की धारा को ग्रहण किया है, ईश्वर ने जिस पथ का निर्माण किया है यह सभ्यता उसी पथ पर अग्रसर हो रही है। इस सभ्यता का श्रेष्ठतातत्व इसी सत्य के ऊपर ही निर्भर करता है।

गिजो का मत हमने उद्धृत कर दिया।

यूरोपीय सभ्यता ने इस क्षण विपुलायतन धारण किया है, इसमें सन्देह नहीं है। यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, तीन महादेश इस सभ्यता का वहन पोषण कर रहे हैं। इतने भिन्न-भिन्न बहुसंख्यक देशों के ऊपर एक महासभ्यता की प्रतिष्ठा, पृथ्वी पर ऐसा आश्चर्यमय वृहद्व्यापार इससे पहले कभी नहीं घटा। सुतरां, किसके साथ तुलना करके इसका विचार करूँगा? किस इतिहास का साक्ष्य ग्रहण करके इसके परिणाम का निर्णय करूँगा? अन्य सभी सभ्यताएँ एक देश की सभ्यता रहीं, एक जाति की सभ्यता, उस जाति ने जितने दिनों ईंधन जुटाया, उतने दिन वे जलीं, उसके बाद वे बुझ गईं अथवा भस्माच्छन्न हो गईं। यूरोपीय सभ्यता की होमानल के लिए समिध्काष्ठ जुटाने का भार लिया है अनेक देश, अनेक जातियों ने। अतएव क्या यह यज्ञ-हुताशन बुझेगी या व्याप्त होकर समस्त पृथ्वी को ग्रस्त बनायेगी? परन्तु, इस सभ्यता के भीतर भी एक कर्तृभाव है; कोई भी सभ्यता आकार-प्रकार हीन नहीं हो पाती। इसके समस्त अवयवों को सचालित कर रही है, ऐसी एक विशेष शक्ति अवश्य ही है। उसी शक्ति के अभ्युदय और पराभव के ऊपर ही इस सभ्यता की उन्नति एवं ध्वंस निर्भर करता है। वह क्या है? उसकी बहु-विचित्र चेष्टा और स्वातन्त्र्य के भीतर ऐक्य-सन्त्र कहाँ है?

यूरोपीय सभ्यता को देश-देश में खण्ड-खण्ड करके देखने पर अन्य सभी विषयों में उसका स्वातन्त्र्य एवं वैचित्र्य दिखाई देता है, केवल एक विषय में उसका ऐक्य दीख पाता है। वह है राष्ट्रीय स्वार्थ।

इंगलैंड में कहिए, फ्रान्स में कहिए, अन्य सभी विषयों में जन-

में उनका धर्मबोध भी कुण्ठित हो जाता है। इसीलिए फ्रांसीसी, अंग्रेज, जर्मन, रूस ये सब एक दूसरे को कपटी, पाखण्डी, प्रवचक कह कर उच्च-स्वर मे गालियाँ देते हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि राष्ट्रीय-स्वार्थ को यूरोपीय सभ्यता इतनी अधिक आत्मन्तिक प्रधानता देती है कि वह क्रमशः स्वधित होकर ध्रुव-धर्म के ऊपर हस्तक्षेप करने मे उद्यत हो गई है। अब क्रिश्चियन मिशनरियो के मुँह मे ही 'भाई' की बात मे भ्रातृभाव का स्वर नही लग पाता।

प्राचीन ग्रीक और रोमक सभ्यता के मूल मे यही राष्ट्रीय स्वार्थ था। इसीलिए राष्ट्रीय महत्व का लोप होने के साथ ही-साथ ग्रीक और रोमक सभ्यता का भी अध-पतन हो गया। हिंदू सभ्यता राष्ट्रीय-ऐक्य के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है। इसीलिए हम लोग स्वाधीन हो अथवा पराधीन रहें, हिन्दू-सभ्यता को समाज के भीतर से दुबारा सजीवित कर सकते हैं, यह आशा त्याग देने की नहीं है।

'नेशन' शब्द हमारी भाषा मे नही है, हमारे देश मे नही था। सम्प्रति यूरोपीय 'शिक्षा के कारण 'नेशनल' महत्व को हम लोगो ने अत्यधिक सम्मान देना सीख लिया है। अथच, उसका आदर्श हमारे अन्त करण के भीतर नही है। हमारा इतिहास, हमारा धर्म, हमारा समाज, हमारा घर-कुछ भी नेशन-गठन की प्रधानता को स्वीकार नही करता। यूरोप मे 'स्वाधीनता' को जो स्थान दिया जाता है, हम लोग 'मुक्ति' को वही स्थान देते हैं। आत्मा की स्वाधीनता के अतिरिक्त अन्य प्रकार की स्वाधीनता के माहात्म्य को हम लोग नही मानते। 'रिपु' का बन्धन ही प्रधान बन्धन है, उसका छेदन कर पाने पर राजा-महाराजा की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ पद प्राप्त करते है। हमारे ग्रहस्थ के कर्तव्य के भीतर सम्पूर्ण जगत् के प्रति कर्तव्य निहित रहते हैं। हमने 'ग्रह' के भीतर ही समस्त ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डपति की प्रतिष्ठा की है। हमारे सर्व प्रधान कर्तव्य का आदर्श इस एक मन्त्र मे निहित है—

ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थ स्यात् तत्वज्ञान परायण: ।
यद्यद् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ।।

इस आदर्श की यथार्थभाव मे रक्षा कर पाना नेशनल कर्तव्य की अपेक्षा दुरुह एव महत्तर है । इन दिनो यह आदर्श हमारे समाज के भीतर सजीव नही है, इसीलिए हम लोग यूरोप से ईर्ष्या करते हैं । इसे यदि घर-घर मे सजीवित कर सकें, तो माउज्जर बन्दूक और दमदम बुलेट की सहायता से बडा नही होना पडेगा, तब हम लोग यथार्थ मे स्वाधीन होगे, स्वतन्त्र होंगे, अपने विजेताओं की अपेक्षा न्यून नहीं होगे। परन्तु उनसे दरख्वास्त के द्वारा जो कुछ पायेगे उससे हम तनिक भी बडे नही होगे ।

पन्द्रह-सोलह शताब्दी बहुत लम्बा समय नही है । नेशन ही सभ्यता की अभिव्यक्ति है, उसकी चरम परीक्षा नही हो पाई है । परन्तु ऐसा दीख रहा है, उसका चरित्र आदर्श उच्चतम नही है । वह अन्याय, अविचार और मिथ्या के द्वारा आकीर्ण है, एव उसकी मज्जा के भीतर एक भीषण निष्ठुरता है ।

इसी नेशनल आदर्श को हम लोग आदर्श रूप मे वरण करें तो क्या हमारे भीतर मिथ्या का प्रभाव स्थान ग्रहण नही कर लेगा ? हमारी राष्ट्रीय सभाओ के भीतर क्या अनेक प्रकार की मिथ्या चातुरी और आत्मगोपन का प्रादुर्भाव नही है । क्या हम लोग यथार्थ बात को स्पष्ट रूप मे कहना सीख रहे हैं ? क्या हम लोग आपस मे नही कहते कि अपने स्वार्थ के लिए जो दूषित है, वह राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए गर्हित नही है ? परन्तु हमारे शास्त्र क्या यह नहीं कहते ?—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्मात् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ।।

वस्तुत प्रत्येक सभ्यता का एक मूल-आश्रय होता है । वह आश्रय धर्म के ऊपर प्रतिष्ठित है या नही, यह विचारणीय है । यदि वह उदार व्यापक न हो, यदि वह धर्म को पीडित करके वृद्धि प्राप्त करे, तो उसकी

आयात उन्नति को देखकर हम उसमें ईर्ष्या करके एव उसी को एकमात्र ईप्सित कहकर वरण न करें।

हमारी हिन्दू सभ्यता के मूल में समाज है, यूरोपीय-सभ्यता के मूल में राष्ट्रनीति है। सामाजिक महत्व से भी मनुष्य माहात्म्य प्राप्त कर सकता है, राष्ट्रनीतिक-महत्व से भी कर सकता है। परन्तु हम यदि यह सोचें कि यूरोपीय ढग पर 'नेशन' को गढ बैठना ही सभ्यता की एकमात्र प्रकृति एव मनुष्यत्व का एकमात्र लक्ष्य है, तो हम गलत सोचेंगे।

करते है और राजस्व देते हैं, हमे भी यही करना होगा। प्राचीन जाति को हठात् नई चेष्टा आरम्भ करनी पडी है।

अतएव चिन्ता छोडो, विश्राम छोडो, गृहकोण छोडो, व्याकरण, न्यायशास्त्र, श्रुति-स्मृति एव नित्य-नैमित्तिक गार्हस्थ्य को लिए रहने से और नही चलेगा; कडी मिट्टी के ढेलो को तोडो, पृथ्वी को उर्वरा करो एव नये-मानव राजा को राजस्व दो, कालिज मे पढो, होटल मे खाओ और आफिस में नौकरी करो।

हाय, भारतवर्ष की पुर-प्राचीर को तोड कर इस अनावृत विशाल कार्यक्षेत्र के भीतर हमे किसने लाकर खडा कर दिया! हम लोग चारो ओर मानसिक बाँध का निर्माण कर, काल स्रोत को बन्द करके सबकुछ अपने मन के अनुसार समेटे हुए बैठे थे। चचल परिवर्तन भारतवर्ष के बाहर समुद्र की भाँति रात-दिन गरजता रहता था, हम लोग अटल स्थिरत्व के भीतर प्रतिष्ठा प्राप्त करके गतिशील निखिल ससार के अस्तित्व मे विस्मृत होकर बैठे हुए थे। इसी बीच किस छिद्रपथ से चिर अशान्त मानव-स्रोत ने हमारे भीतर प्रवेश के सब को छार-खार कर दिया। पुरातन के भीतर नूतन को मिलाकर, विश्वास के भीतर सशय को लाकर, सतोष के भीतर दुराशा के आक्षेप को उत्क्षिप्त करके सब कुछ विपर्यस्त कर दिया!

याद करो, हमारे चारो ओर हिमाद्रि एव समुद्र की बाधा यदि और भी दुर्गम होती तो मनुष्यो का एक झुण्ड एक अज्ञात निभृत वेष्टन के भीतर स्थिर शान्त भाव से एक प्रकार सकीर्ण परिपूर्णता प्राप्त करने का अवसर पा लेता। पृथ्वी के समाचार वे लोग बहुत अधिक नही जान पाते एव भूगोल के बारे मे उनकी नितान्त असम्पूर्ण धारणा बनी रहती; केवल उनके काव्य, उनके समाजतन्त्र, उनके धर्मशास्त्र, उनके दर्शनतत्व, अपूर्व शोभा, सुषमा एव सम्पूर्णता प्राप्त करते रहते; वे लोग पृथ्वी को छोड कर एक दूसरे ही छोटे ग्रह के भीतर निवास करते; उनका इतिहास, उनका ज्ञान-विज्ञान, सुख-सम्पत्ति उन्ही के भीतर पर्याप्त

मात्रा मे रहते। समुद्र के एक भाग के कालक्रम मे मृत्तिकास्तर से रुद्ध हो जाने पर जिस तरह एक निभृत शान्तिमय सुन्दर ह्रद (झील) की सृष्टि होती है, वह केवल निस्तरङ्गभाव मे प्रात -सन्ध्या की विचित्र वर्ण छाया मे प्रदीप्त हो उठती है, एव अन्धेरी रात्रि म स्तिमित नक्षत्रालोक म स्तम्भित भाव मे चिर रहस्य के ध्यान में डूबी रहती है।

काल के वेगवान प्रवाह मे परिवर्तन कोलाहल के केन्द्रस्थल मे, प्रकृति की सहस्र शक्तियाम् रण-रङ्गभूमि के बीच सक्षुब्ध होकर, एक विशेष प्रकार की ठोकर शिक्षा एव सभ्यता प्राप्त होती है, यह सत्य अवश्य है, परन्तु निर्जनता निस्तब्धता, गम्भीरता के भीतर अवतरित होकर कोई भी रत्न सचित नहीं किया, जा सकता, यह कैसे कहा जा सकता है ?

इस मध्यमान संसार-समुद्र के भीतर उस निस्तब्धता का अवसर किसी जाति को नही मिला, लगता है, केवल भारतवर्ष ने ही किसी समय भाग्यवश समस्त पृथ्वी के भीतर उस विच्छिन्नता को प्राप्त किया था एव अतलस्पर्श के भीतर अवगाहन किया था। जगत् जिस प्रकार असीम है, मानव की आत्मा भी उसी प्रकार असीम है, जिन्होने उस ऊनाविष्कृत अन्तर्देश के पथ का अनुसन्धान किया था, उन्होने किसी नवीन सत्य एव किसी नवीन आनन्द को प्राप्त नही किया, यह नितान्त अविश्वासी की बात होगी।

भारतवर्ष उस समय एक रुद्ध द्वार निर्जन, रहस्यमय परीक्षा कक्ष की भाँति था; उसके भीतर एक अपरूप मानसिक सभ्यता की गोपन परीक्षा चल रही थी। यूरोप के मध्ययुग में जिस तरह आल्केमि-तत्वान्वेषियो ने गुप्त गृह में निहित रह कर विविध प्रकार के अद्भुत यन्त्र-तन्त्रो के योग से चिर-जीवन-रस (Elixir of Life) का आविष्कार करने की चेष्टा की थी, हमारे ज्ञानियो ने भी उसी तरह गुप्त सतर्कता के साथ आध्यात्मिक चिरजीवन प्राप्ति का उपाय खोज निकाला था। उन्होने प्रश्न किया था, 'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्।' एव अत्यत

दु साध्य उपाय से हृदय के भीतर ही उस अमृतमर की खोज मे प्रवृत्त हुए थे।

उससे क्या हो सकता था, कौन जाने। अतिकेमि से जिस तरह केमिस्ट्री की उत्पत्ति हुई, उसी तरह उनकी उस तपस्या से मानव की किस एक निगूढ नवीन शक्ति का आविष्कार हो सकता था, उसे अब कौन कह सकता है!

परन्तु हठात् दरवाजा तोड कर बाहर के दुर्दान्त लोग भारतवष की उस पवित्र परीक्षा शाला के भीतर जबर्दस्ती घुस गए और उस अन्वेषण का परिणाम फल सर्वसाधारण के निकट अप्रकाशित ही रह गया। आज-कल की नवीन दुरन्त सभ्यता के भीतर इस परीक्षा का कैसा प्रशान्त अवसर फिर कभी मिल सकेगा या नही, कौन जाने।

पृथ्वी के लोगो ने उस परीक्षागार के भीतर प्रवेश करके क्या देखा? एक जीर्ण तपस्वी, वस्त्र नही, आभूषण नही, पृथ्वी के इतिहास के बारे मे अभिज्ञता नही। वह जिस बात को कहना चाहता है अभी तक उसकी विश्वास करने योग्य कोई भाषा नही, प्रत्यक्षगम्य प्रमाण नही, आयत्तगम्य परिणाम नही।

अतएव हे वृद्ध, हे चिताद्धर, हे उदासीन, तुम उठो, पॉलिटिकल ऐजिटेशन करो, अथवा दिवा शय्या पर पडे-पडे अपने पुरातन यौवन-काल के प्रताप की घोषणा करते हुए जीर्ण अस्थियो का आस्फालन करो देखो उससे तुम्हारी लज्जा का निवारण होता है या नही।

परन्तु मेरी उसमे प्रवृत्ति नही होती। केवल अखबारो के पाल उडा-कर दुस्तर ससार समुद्र मे यात्रा आरम्भ करने का साहस मुझे नही होता। जब धीमी-धीमी अनुकूल हवा चलती है, तब ये कागज के पाल फूलते तो जाएँगे, परन्तु न जाने कब समुद्र से आंधी आपहुंचे और दुर्बल दम्भ शतधा छिन्न विच्छिन्न हो जाय।

यदि ऐसा होता, समीप ही कहीं 'उन्नति' नामक पक्का बन्दरगाह है, वहां किसी प्रकार पहुंचते ही उसके बाद दधि एव

पिट्टक (पेड़ा) दीखना एव मुग्धता । नौका होने पर भी वरन् एक वार समय को समझ कर, आकाश की भाव गति को देखकर, अत्यन्त चतुराई के साथ पार होने की चेष्टा करली जाती। परन्तु जब जानते हैं कि उन्नति पथ की यात्रा का कहीं अन्त नहीं है, कहीं पर भी नाव को बाँधकर सो लेने का स्थान नहीं है, ऊपर केवल ध्रुवतारा चमक रहा है एव सामने केवल तट हीन समुद्र है वायु अनेक बार प्रतिकूल एवम् लहरें सदैव ही प्रवल रहती हैं, तब क्या बैठे बैठे केवल फुलस्केप कागज की नाव बनाने मे प्रवृत्ति हो सकती है ?

अथच, नाव को बहाने की इच्छा है । जब दीखता है, मानव स्रोत चल रहा है—चारों ओर विचित्र कल्लोल, उद्दाम वेग, प्रवल गति, अविश्राम कर्म है—तब हमारा भी मन नाच उठता है, उस समय इच्छा होती है, बहुत वर्षों के गृह-बन्धन को तोड़कर एक दम बाहर निकल पड़ें। परन्तु उसके बाद ही खाली हाथों की ओर देख-देखकर सोचते हैं, पाथेय कहाँ है ! हृदय मे जो असीम आशा है, जीवन मे वह अश्रान्त बल है, विश्वास का वह अप्रतिहत प्रभाव कहाँ है ! तब तो पृथ्वी के कोने मे यह अज्ञातवास ही अच्छा है यह क्षुद्र सन्तोष एवम् निर्जीव शांति ही हमारा यथालाभ है ।

उस समय बैठे-बैठे मन को यह कहकर समझाते हैं कि हम लोग यन्त्र तैयार नहीं कर पाते, ससार के सभी निगूढ समाचारों की खोज नहीं कर पाते, परन्तु प्यार कर सकते हैं, एक दूसरे के लिए स्थान छोड सकते हैं । दु साध्य दुराशा लेकर, अस्थिर होकर घूमने की क्या आवश्यकता है ! न हो, एक बगल को ही पड़े रहेंगे, 'टाइम्स' के जगत्-प्रकाशक स्तम्भ म हम लोगों का नाम न हो, नहीं उठेगा।

परन्तु दुख है, दारिद्रय है, प्रवल का अत्याचार है, असहाय के भाग्य में अपमान है—कोन म बैठकर केवल गृह कर्म एवम् आतिथ्य करके उसका क्या प्रतिकार करेंगे ?

हाय, वही तो भारतवर्ष का दुःसह दुख है । हम लोग किसके साथ

युद्ध करेंगे । रुद्ध मानव-प्रकृति की चिरन्तन निष्ठुरता के साथ? यीशु खीष्ट के पवित्र शोणित-स्रोत जिस अनुर्वर काठिन्य के आज भी कोमल नही कर पाया, उसी पाषाण के साथ? प्रवलता चिरदिन दुर्बलता के प्रति निर्मम होती है, हम लोग उस आदिम पशु-प्रकृति को किस प्रकार जीत सकेंगे? सभा करके? दरखास्त करके? आज थोडी सी भिक्षा पाकर, कल थोडी सी फटकार खाकर? ऐसा कभी नही होगा।

तब, प्रबल के समान प्रबल होकर? वैसा हो सकता है। परन्तु जब विचार करके देखता हूँ, यूरोप कितना प्रबल है, कितने कारणो से प्रबल है, जिस समय इस दुर्दान्त शक्ति को एक बार काय-मन से सर्वतोभाव से अनुभव करके देखता हूँ, तब क्या फिर आशा होती है? उस समय लगता है, आओ भाई, सहिष्णु होकर रहे एवम् प्यार करें और भला करें। 'पृथ्वी पर जितने भी काम करे, उन्हे सचमुच ही करें, उनका दिखावा मात्र न करें। अक्षमता की प्रधान विपत्ति यही है कि वह बडा काम नहीं कर सकती, इसलिए बडप्पन का प्रदर्शन करने को श्रेयस्कर समझती है। यह नही जानती कि मनुष्यत्व लाभ के पक्ष में बड़े मिथ्या की अपेक्षा छोटा सत्य बहुत अधिक मूल्यवान है।

परन्तु उपदेश देना मेरा अभिप्राय नहीं है। प्रकृत-अवस्था क्या है, उसी को देखने की मैं चेष्टा करता हू। उसे देखने पर पुरातन वेद, पुराण, सहिता को खोल बैठकर अपने मन के अनुसार श्लोकों का सग्रह करके एक काल्पनिक काल की रचना करनी पड़ेगी, ऐसा नही है, किम्बा अन्य अन्य जाति की प्रकृति और इतिहास के साथ कल्पना योग से अपनो को विलीन करके; हमारी नवीन-शिक्षा की क्षीण-भित्ति के ऊपर प्रकाण्ड दुराशा का दुर्ग निर्मित करना होगा, वह भी नही है; देखना होगा कि इस समय हम लोग कहाँ है। हम लोग जहाँ पर टिके हुए हैं; वहाँ पर पूर्व दिशा की ओर से अतीत की एवम् पश्चिम दिशा की ओर से भविष्यत् की मरीचिका आकर गिर रही है; उन दोनो को ही सम्पूर्ण निर्भर योग्य सत्य-स्वरूप मे न जानकर, एक बार देखा जाय,

कि हम लोग वास्तव मे किस मिट्टी के ऊपर खड़े हुए हैं ।

हम लोग एक अत्यन्त जीर्ण प्राचीन नगर मे निवास करते हैं, इतने प्राचीन कि आधुनिक इतिहास लुप्त प्राय हो गया है, मनुष्य के हस्त-लिखित स्मरण चिह्न भी शैवाल से ढक गए हैं, इसलिए भ्रम होता है कि जैसे यह नगर मानव-इतिहास से परे है यह जैसे अनादि प्रकृति की एक प्राचीन राजधानी है। मानव पुरावृत्त की रेखा को लुप्त करके प्रकृति ने अपने श्यामल अक्षर इसके सर्वाङ्ग मे विचित्र आकार मे सजा दिए है। यहाँ पर सहस्र वर्षों की वर्षा अपनी अश्रु-चिह्न-रेखा को रख गई है एव सहस्र वर्षों का वसन्त इसकी प्रत्येक भित्ति छिद्र मे अपने यातायात की तारीख को पीतवर्ण अक्षरो मे अकित कर गया है। एक ओर से इसे नगर कहा जा सकता है, दूसरी ओर से इसे अरण्य कहा जाता है। यहाँ पर केवल छाया और विश्राम, चिन्ता और विषाद निवास कर सकते हैं यहाँ के झिल्ली-मुखरित अरण्य-मर्मर के भीतर, यहाँ की विचित्र भगी वाली जटाभारग्रस्त शाखा-प्रशाखा और रहस्यमय पुरातन अट्टालिका भित्ति के भीतर शत-सहस्र छाया को कायामयी और काया को छाया-मयी के रूप मे देखकर भ्रम होता है। यहाँ की इस सनातन महाछाया के भीतर *सत्य एव कल्पना ने भाई-बहिन की भाँति निर्विरोध आश्रय* ग्रहण किया है। अर्थात् प्रकृति के विश्व कार्य एव मानव की मानसिक-सृष्टि ने परस्पर जडित विजडित होकर नाना आकारो मे छायाकुञ्ज का निर्माण किया है। यहाँ की लडकियाँ दिनभर खेलती रहती हैं एव वय-स्क लोग रात-दिन स्वप्न देखते हैं परन्तु ऐसा समझते है कि वह कर्म है। ससार का मध्याह्न–सूर्यालोक छिद्र-पथ से प्रवेश करके केवल छोटे–छोटे मानिक की भाँति दिखाई देता है, प्रबल आँधी शत-शत सकीर्ण शाखा–सङ्कट के बीच प्रतिहत होकर मृदु–मर्मर की भाँति मिल जाता है। यहाँ पर जीवन और मृत्यु, सुख और दु ख, आशा और नैराश्य के सीमा-चिह्न लुप्त हो गये हैं, अदृष्टवाद एव कर्मकाण्ड, वैराग्य एव ससार-यात्रा एकसाथ ही दौड रहे हैं। *आवश्यक एव अनावश्यक, ब्रह्म*

और मृत्प्रस्तल, छिन्नमूल सुप्त अतीत और उद्विग्न विशालय ने जीवन्त वर्तमान की अति समादर प्राप्त किया है। शास्त्र जहाँ पर पड़े हैं, वहीं पर पड़े ही हैं। एवं शास्त्र को आच्छन्न करके जहाँ पर सहस्र ग्रन्थ-कीटों की वल्मीक (बमई) उठी है, वहाँ पर भी कोई अलस भक्ति भर कर हस्तक्षेप नहीं करता। ग्रन्थ के अक्षर एवं ग्रन्थ-कीट के छिद्र दोनों ही इस जगह समान सम्मान के कारण हैं। यहाँ के अश्वत्थ-विदीर्ण-भग्न-मन्दिर के भीतर देवता और उपदेवता इकट्ठे आश्रय लेकर विराज रहे हैं।

यहाँ पर क्या तुम लोगों को विश्व-युद्ध का सैन्य-शिविर स्थापित करने का स्थान है। यहाँ की भग्न-भित्ति क्या तुम लोगों के कल-कारखाने, तुम लोगो के अग्नि-श्वसित सहस्रबाहु लौह-दानवो के कारागारके निर्माण के योग्य है! तुम लोगो के अस्थिर उद्यम के वेग से इसकी प्राचीन ईंटो को भूमिसात् अवश्य कर सकते हो, परन्तु उसके बाद पृथ्वी की यह अति प्राचीन शय्याशायी जाति कहाँ जाकर खड़ी होगी! इस निश्चेष्ट निविड़ महा नगराण्य के टूट जाने पर सहस्र मृत वर्षों के जिस एक वृद्ध ब्रह्म दैत्य ने यहाँ पर चिरनिभृत आवास ग्रहण किया है, वह भी तो सहसा निराश्रय हो जायगा।

इन्होंने बहुत दिनों से अपने हाथ से गृह निर्माण नहीं किया, उसका अभ्यास इन लोगों को नहीं है, इन लोगों को समधिक चिन्ताशील गणों का यही एक महान गर्व है। वे लोग जिस बात को लेकर कलम की पूँछ का आस्फालन करते हैं, वह बात अत्यन्त सच है, उसका प्रतिवाद करने की किसी में हिम्मत नहीं है। वास्तव में ही अति प्राचीन आदि-पुरुष की वास्तु-भित्ति इन लोगों को कभी भी नहीं छोड़नी पड़ी है। कालक्रम से अनेक असंख्येयगौरव, अनेक नवीन सुविधा-असुविधाओं की सृष्टि हुई है; परन्तु सब को खींचकर मृत को एवं जीवित को, सुविधा को एवं असुविधा को प्राणपण से उस पितामह-प्रतिष्ठित एक भित्ति के भीतर सुप्त किया गया है। असुविधा की खातिर इन्होंने कभी भी इ-र

चित भाव से अपने हाथ से नवीन गृह-निर्माण अथवा पुरातन गृह-सस्कार किया है, ऐसी ग्लानि इन लोगो के शत्रु-पक्ष के मुँह से भी नही सुनी जाती। जहाँ पर घर की छत के भीतर छेद निकल आया है, वहाँ पर उत्पन्न-सम्भूत बरगद की शाखा ने कदाचित छाया दी है, कालसञ्चित मृत्तिका-स्तर से कथञ्चित-छिद्ररोध किया है।

इस वनश्री-हीन सघन वन मे, हम पुर लक्ष्मीहीन भग्न पुरी के भीतर, हम लोग धोती, चादर पहिन कर अत्यन्त मृदुमन्दभाव से विचरण करते हैं; भोजनो-परान्त कुछ देर सोते है; छाया मे बैठ कर ताश पत्ते खेलते हैं; जो कुछ असम्भव एव सांसारिक कार्यों के बाहर है, उसी पर झटपट विश्वास कर बैठने को स्नेह करते हैं; जो कुछ कार्योपयोगी एवं दृष्टिगोचर है उसके प्रति मन का अविश्वास किसी तरह भी सम्यक् दूर नही हो पाता; एव इसी के ऊपर कोई बालक यदि कौड़ीभर चचलता को प्रकट करता है, तो हम सब लोग मिलकर सिर हिलाते हुए कहते हैं, सर्वमत्यन्त गर्हितम्।

इसी समय तुम लोग कही से अचानक आकर हमारे जीर्ण पजर मे दो-तीन प्रवल धक्के देकर कहते हो, 'उठो उठो; तुम्हारी शयनशाला मे हम आफिस स्थापित करना चाहते हैं। तुम लोग सो रहे हो, इसलिए सारा ससार भी सो रहा है, ऐसा नही है। इसी बीच ससार के अनेक परिवर्तन हो गए हैं। यह घण्टा बज रहा है, अब पृथ्वी का मध्यान्ह काल है, अब काम का समय है।'

उसे सुनकर हमारे बीच कोई-कोई हडबडा उठता है 'कहाँ है कर्म' 'कहाँ है कर्म' करता हुआ घर के चारो कोने मे घबराया हुआ सा फिरता है एवम् उन्ही के बीच जो लोग कुछ स्थूलकाय स्फीत स्वभाव के लोग हैं वे करवट बदलते हुए कहते है, 'कौन है! कर्म की बात कौन कहता है! तो, क्या हम लोग काम के आदमी नही हैं, यह कहना चाहते हो! भारी भ्रम है। भारतवर्ष के अतिरिक्त कर्म-स्थान कहीं भी नहीं है। देखते क्यो नही, मानव-इतिहास के प्रथम युग मे इसी जगह

आर्य-बर्बरो का युद्ध हो चुका है; इसी जगह कितने ही राज्य पतन हुए, कितने नीति-धर्म का अभ्युदय हुआ, कितनी सभ्यताओ के सग्राम हो चुके हैं। अतएव केवल हमी कर्म के आदमी है। अतएव हमसे और कर्म करने के लिए मत कहो। यदि अविश्वास हो तो तुम लोग वरन् एक काम करो—अपने तीक्ष्ण ऐतिहासिक कुदालो से भारतभूमि की युग सचित विस्मृति के स्तर को उठाकर देखो, मानव-सभ्यता की भित्ति पर कहाँ कहाँ हमारे हस्त-चिन्ह हैं। हम लोग तब तक इसी तरह और एक बार सो ले।'

इस तरह से हमारे भीतर कोई-कोई अर्ध-चेतन जड मूढ दाम्भिक सोचता है, ईषत्-उन्मीलित निद्रा-कषायित नेत्रो से, आलस्य-विजडित अस्पष्ट हुंकार से, जगत् के दिवालोक के प्रति अवज्ञा प्रकट करता है। और कोई-कोई गभीर आत्म-ग्लानि के साथ शिथिल स्नायु जड उद्यम को भूयोभूय आघात के द्वारा जाग्रत् करने की चेष्टा करता है। एव जो लोग जाग्रत-स्वप्न के आदमी हैं, जो लोग कर्म और चिन्ता के बीच अस्थिर-चित्त से दोदुल्यमान हैं, जो लोग पुरातन की जीर्णता को देख पाते है एव नूतन की असम्पूर्णता को अनुभव करते हैं, वे अभागे बारम्बार सिर हिलाते हुए कहते हैं—

'हे नवीन लोगो, तुम लोगो ने जो नूतन काण्ड करना आरम्भ कर दिया है; अभी तक उसकी समाप्ति नही हुई है, अभी तक उसका सब सत्य-मिथ्या स्थिर नही हुआ है। मानव भाग्य की चिरतर समस्या की तो कोई भी मीमासा नही हुई है।

'तुम लोगो ने बहुत कुछ जाना है, बहुत कुछ पाया है, परन्तु सुख क्या पाया? हम लोग जो विश्व-ससार को माया कह कर बैठे हुए है और तुम लोग जो इसे ध्रुवसत्य कह कर खटते हुए मर रहे हो, तुम लोग क्या हमारी अपेक्षा अधिक सुखी हो सके हो? तुम लोग जो नित्य-नूतन अभाव का आविष्कार करके दरिद्र के दारिद्र्य को उत्तरोत्तर बढा रहे हो। घर के स्वास्थ्य जनक आश्रय से अविश्राम कर्म की

उत्तजना को खीचे लिए जा रहे हो, कर्म को ही सम्पूर्ण जीवन का कर्ता बनाकर उन्मादना को विश्राम के स्थान पर प्रतिष्ठित कर रहे हो, तुम लोग क्या स्पष्ट रूप मे जानते हो कि तुम लोगो की उन्नति तुम लोगो को कहाँ लिए जा रही है ?

'हम लोग पूर्ण रूप से जानते है कि हम कहाँ से आये हैं। हम लोग घर के भीतर अल्प-अभाव और प्रगाढ स्नेह लेकर परस्पर आबद्ध होकर नित्य नैमित्तिक क्षुद्र निकटवर्ती सभी कर्त्तव्यो का पालन करते जा रहे हैं। हम लोगो की जितनी भी सुख समृद्धि है, धनी-दरिद्र ने और निकट-सम्पर्कीय ने, अतिथि, अनुचर और भिक्षुक ने मिलकर बाँट ली है। यथासम्भव लोग यथासम्भव अनुरूप सुख मे जीवन काटे दे रहे हैं, कोई किसी का त्याग नही करना चाहता, एव जीवन-झझा की ताड़ना स कोई किसी का त्याग करन के लिए बाध्य नही होता।

'भारतवर्ष ने सुख नही चाहा, सन्तोष चाहा था, उसे पाया भी था एव सर्वतोभाव से सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा स्थापित की थी। अब उसे और कुछ करने को नही है। वह अपितु अपने विश्रामकक्ष में बैठकर तुम्हारे उन्मादपूर्ण जीवन-उत्प्लव को देखकर, तुम्हारी सभ्यता की चरम सफलता के बारे मे मन ही मन सशय का अनुभव कर पा रहा है। समझ पा रहा है कि, कालक्रम से अन्त मे तुम लोगो को जब एक दिन काम बन्द करना पडेगा, तब क्या ऐसे धीरे ऐसी सरलता से, ऐसे विश्राम के बीच अवतरण कर पाओगे ? हमारी तरह ऐसी कोमल, ऐसी सहृदय परिणति प्राप्त कर सकोगे क्या ? उद्देश्य जिस तरह क्रम क्रम से लक्ष्य के भीतर समाप्त होता है, उत्तप्त दिन जिस तरह सौदर्य से परिपूर्ण होकर सन्ध्या के अन्धकार म अवगाहन करता है उसी तरह मधुर समाप्ति को प्राप्त कर सकोगे क्या ? नही, यन्त्र जिस तरह अचानक बिगड़ जाता है, उत्तरोत्तर अतिरिक्त वाष्प और ताप सचय करके ऐंजिन जिस तरह सहसा फट जाता है, एक पथ पर चलने वाली दो विपरीतमुखी रेलगाडियाँ परस्पर के सघात मे जिस तरह अकस्मात् विपर्यस्त हो जाती है, उसी

तरह प्रबल वेग से एक निदारुण अधपात की समाप्ति प्राप्त होगी ?

'जो भी हो, तुम लोग इस समय अपरिचित समुद्र मे अनाविष्कृत तट की खोज मे चले हो—अतएव अपने पथ पर तुम जाओ। अपने घर मे हम लोग रहे, यह बात ही अच्छी है।'

परन्तु मनुष्य को रहने कौन देता है ? तुम जिस समय विश्राम करना चाहते हो पृथ्वी के अधिकाश लोग उस समय अश्रात होते हैं। गृहस्थ जब नीद मे कातर होते हैं, गृह विहीन उस समय अनेक भावो से गली-गली मे घूमते फिरते हैं।

इसके अतिरिक्त यह स्मरण रखना कर्तव्य है कि पृथ्वी पर जिस जगह आकर तुम रुकोगे, वही से तुम्हारा ध्वंस आरम्भ होगा। कारण, तुम्ही अकेले रुकोगे, और कोई नही रुकेगा। जगत्-प्रवाह के साथ सम-गति से यदि न चल सके तो प्रवाह का समस्त सचल वेग तुम्हारे ऊपर आकर आघात करेगा, एकबार म ही विदीर्ण, विपर्यस्त हो जाओगे अथवा धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त होकर काल-स्रोत के तल-देश मे अन्तर्हित हो जाओगे। या तो अविश्राम चलो और जीवन चर्चा करो, अन्यथा विश्राम करो एवम् विलुप्त हो ओ, पृथ्वी का इसी तरह का नियम है।

अतएव हम लोग जिस जगत के भीतर लुप्तप्राय हो आये हैं, उसमे किसी को कुछ कहने के लिए नहीं है। तब उसके बारे मे जिस समय विलाप करेंगे, तब इसी तरह के भाव से करेंगे कि पहले जिस नियम का उल्लेख किया गया है, वह साधारणतः लागू अवश्य होता है, परन्तु हमने उसी के भीतर ऐसा एक सुयोग कर लिया है कि हमारे सम्बन्ध मे बहुत दिनो तक लागू नही होता। जिस तरह सब ओर से विचार करके कहा जाता है कि जरा-मृत्यु जगत् का नियम है, परन्तु हमारे योगीजनो ने जीवनी शक्ति को निरुद्ध करके मृतवत् होकर भी जीवित रहने के एक उपाय का आविष्कार कर लिया था। समाधि-अवस्था मे उन लोगो के लिए जिस तरह वृद्धि नहीं थी, उसी तरह ह्रास भी नही था। जीवन

का गतिरोध करके ही मृत्यु आती है। परन्तु जीवन की गति को रुद्ध करके ही वे लोग चिर-जीवन प्राप्त करते थे।

हमारी जाति के बारे में भी वही बात बहुत कुछ लागू होती है। अन्य जातियाँ जिस कारण से मरती हैं, हमारी जाति ने उसी कारण को उपायस्वरूप बना कर दीर्घ-जीवन के पथ का आविष्कार किया था। आकांक्षा के आवेग का जब ह्रास हो जाता है, श्रान्त उद्यम जब शिथिल हो जाता है, उस समय जाति विनाश को प्राप्त हो जाती है। हमने बड़े यत्न से दुराकाक्षा को क्षीण और उत्तम को जडीभूत करके समभाव से परमायु की रक्षा करने का उद्योग किया था।

लगता है, जैसे बहुत कुछ फल लाभ भी हुआ था। घडी की सुई जिस जगह स्वय ही रुक जाती है। समय को भी कौशलपूर्वक उसी जगह रोक दिया गया था। पृथ्वी से जीवन को बहुत कुछ परिमाण मे निर्वासित करके एक ऐसे मध्य-आकाश मे उठा रक्खा गया था कि जहाँ पर पृथ्वी की धूलि नहीं पहुँच पाती थी, वह सदैव ही निर्लिप्त, निर्मल, निरापद बना रहता था।

परन्तु एक जनश्रुति प्रचलित है कि कुछ समय हुआ, निकटवर्ती किसी एक अरण्य से एक दीर्घ जीवी योगमग्न योगी को कलकत्ते मे लाया गया था। यहाँ पर बहुत उपद्रवो द्वारा उसकी समाधि भङ्ग कराते समय उसकी मृत्यु हो गई। हमारी जातीय योग निद्रा को भी उसी तरह बाहर के लोगो ने बहुत उपद्रवों से भङ्ग कर दिया है। अब अन्यान्य जातियो के साथ उसका और कोई अन्तर नही है, केवल प्रभेद के बीच यही है कि बहुत दिनो तक बाहरी विषयों मे निरुद्यम रखते हुए जीवन-चेष्टा से वह अनभ्यस्त हो गई है। योग के बीच से निकल कर एकदम गोल-योग के बीच आ पडी है।

परन्तु क्या किया जाय! अब तो उपस्थित समयानुसार साधारण नियम से प्रचलित प्रथा द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयत्न करना होगा। दीर्घ जटा और नखो को काट फेंककर नियमित स्नानाहार-पूर्वक कथञ्चित्

वेश भूषा करके हाथ-पाँव चलाने में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

परन्तु सम्प्रति मामला इस तरह का हो गया है कि हम लोगों ने जटा नख काट फेंके अवश्य हैं, संसार के भीतर प्रवेश करके समाज के लोगों के साथ मिलना भी आरंभ किया है, परन्तु मन के भावों में परिवर्तन नहीं कर पाये हैं। अभी तक हम लोग कहते हैं, हमारे पूर्वजों ने शुद्धमात्र हरीत की (हरड़) सेवन करके नग्न-शरीर से महत्व प्राप्त किया था, अतएव हमारे निकट वेश-भूषा, आहार विहार, चाल-चलन का इतना समादर किसलिए ? यह कह कर हम लोग धोती के कोंचा को विस्तार पूर्वक पीठ के ऊपर डालकर दरवाजे के सामने बैठकर कर्मक्षेत्र के प्रति अलग अनासक्त दृष्टिपात पूर्वक वायु सेवन करते हैं।

यह हम लोगों को स्मरण नहीं है कि योगासन में जो परम सम्मानार्द है, समाज के भीतर वह बर्बरता है। प्राण न रहने पर शरीर जैसे अपवित्र होता है, भाव न रहने पर वाह्यानुष्ठान भी वैसे ही होते हैं।

तुम्हारे मेरे जैसे लोग जो कि तपस्या भी नहीं करते, हविष्य भी नहीं खाते, जूते-मोजे पहिन कर ट्राम में चढ़ कर पान चबाते-चबाते नियमित रूप से आफिस में, स्कूल में जाते हैं। जिन्हें आद्योपान्त अलग-अलग करके देखने पर किसी तरह भी प्रतीति नहीं होती, ये लोग दूसरे याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, गौतम, जरत्कार, वैशम्पायन अथवा भगवान कृष्ण-द्वैपायन हैं; छात्रवृन्द, जिन्हें बालखिल्य तपस्वी कहने तक में किसी को भ्रम नहीं होता; एक दिन तीनों सन्ध्याकाल में स्नान करके एक हरीत की मुँह में डालकर जिन्हें उसके बाद एकादिक्रम में कुछ समय आफिस किम्वा कालिज में कमाई करना अत्यावश्यक हो जाता है—उनके पक्ष में इस तरह ब्रह्मचर्य का वाह्याडम्बर करना, पृथ्वी के अधिकांश उद्योग परायण मान्य जातियों के प्रति खर्व नासिका से सिट्कार करना, केवलमात्र अद्भुत असङ्गत हास्यकर ही हो, ऐसा नहीं है, परन्तु पूर्ण रूपेण क्षति-जनक है।

विशेष काम की विशेष व्यवस्था है। पहलवान लगोटी पहिनता है, मिट्टी मलता है, छाती फुलाकर घूमता फिरता है, रास्ते के लोग वाह-वाह करते हैं, उसका लडका नितान्त काहिल एव बेचारा ऐन्ट्रेन्स तक पढकर आज पाँच-सात वर्ष से बङ्गाल सेक्रेटरियेट आफिस मे ऐप्रेन्टिस है, वह भी यदि लगोटी पहने, मिट्टी मले एव उठते-बैठते ताल ठोके एव भद्र-लोगो द्वारा कारण पूछने पर कहे कि 'मेरे पिता पहलवान है,' तो अन्य लोगो को कैसे भी आमोद का अनुभव हो, आत्मीयबन्धुजन उसके लिए सविशेष उद्विग्न हुए बिना नहीं रह सकेगे। अतएव हो सके तो सचमुच ही तपस्या करे अन्यथा तपस्या का आडम्बर छोड दो।

प्राचीनकाल मे ब्राह्मण लोग एक विशेष सम्प्रदाय थे, उनके ऊपर एक विशेष कार्य भार था। उस कार्य मे विशेष उपयोगी होने के लिए उन्होने अपने चारो ओर कितने ही आचरण-अनुष्ठानो की सीमारेखा अंकित कर रक्खी थी। अत्यन्त सतर्कता के साथ वे लोग अपने चित्त को उस सीमा के बाहर विक्षिप्त नहीं होने देते थे। सभी कामो की ऐसी ही एक उपयोगी सीमा है, जो अन्य कामो के लिए बाधामात्र है। हल-वाई की दूकान के भीतर अटर्नी अपना व्यवसाय चलाने जाए तो सहस्रो विद्वानो के द्वारा प्रतिहत हुए बिना नही रह सकेगा एव अभूतपूर्व एटर्नी के आफिस मे यदि कारणवश हलवाई की दूकान खोलनी पडे तो चौकी-टेबिल, कागज पत्र एव स्तर-स्तर से सुसज्जित लॉ रिपोर्टो के प्रति ममता प्रकट करने से चलेगा ?

वर्तमानकाल मे ब्राह्मणो का वह विशेषत्व अब नही है। केवल अध्ययन, अध्यापना एव धर्मालोचना मे वे लोग नियुक्त नही हैं। उनमे से अधिकाश नौकरी करते हैं, तपस्या करते किसी को नही देखा जाता। ब्राह्मणो के साथ ही ब्राह्मणेतर जातियो में कोई कार्य-वैषम्य दिखाई नही देता, ऐसी अवस्था मे ब्राह्मण्य की रेखा के भीतर बँधे रहने की कोई सुविधा अथवा सार्थकता दिखाई नही पडती।

परन्तु सम्प्रति ऐसे बन कर खडे हुए हैं कि ब्राह्मणधर्म जैसे केवल

ब्राह्मण को ही बाँधे हुए हो, वैसा नही है। शूद्र, जिनके समीप शास्त्र का बन्धन किसी भी काल मे दृढ नहीं था वे भी, किसी एक अवसरमें पूर्वोक्त रेखा के भीतर प्रवेश करके बैठे हुए है; अब और किसी तरह भी स्थान नहीं छोडना चाहते।

पूर्वकाल मे ब्राह्मणो द्वारा केवल मात्र ज्ञान और धर्म का अधिकार ग्रहण किए जाने पर स्वभावत: शूद्रो के ऊपर समाज के विविध क्षुद्र कामो का भार था, सुतरां उनके ऊपर आचार विचार, मन्त्र-तन्त्र के सहस्रों बन्धन-पाश प्रत्याहरण करके, उनकी गतिविधियो को बहुत कुछ अव्याहत कर दिया गया था। अब भारतव्यापी एक प्रकाण्ड लूतातन्तु-जाल के भीतर ब्राह्मण शूद्र सभी हाथ-पाँव बँधे हुए मृतवत् निश्चल पडे हुए हैं। न वे पृथ्वी का काम करते हैं, न पारमार्थिक योग-साधन करते है। पहले जो सब काम थे, वे भी बन्द हो गये हैं, सम्प्रति जो काम आवश्यक हो गए हैं, उन्हे भी पग-पग पर बाधा दी जा रही है।

अतएव समझना उचित है, इस समय हम लोग जिस ससार के भीतर सहसा आ पडे हैं, यहाँ प्राण एव मान रक्षा करने के हेतु क्षुद्र-क्षुद्र आचार-विचारो को लेकर ऐब निकालने, वस्त्र के अग्रभाग को पकडकर उठाने, नासिका के अग्रभाग मात्र को कुंचित करले, एकान्त सन्तर्पण से पृथ्वी पर घूमने-फिरने से नही चलेगा—जैसे यह विशाल विश्व ससार एक पक कुण्ड है, श्रावण मास का कच्चा रास्ता है, पवित्र व्यक्ति के कमल-चरण-तल के अयोग्य है। अब यदि प्रतिष्ठा चाहते हो तो चित्त के उदार प्रसार, सर्वाङ्गीण निरामय स्वस्थ भाव, शरीर और बुद्धि की बलिष्ठता, ज्ञान का विस्तार एव विश्राम-हीन तत्परता चाहिए।

साधारण पृथ्वी के स्पर्श का यत्नपूर्वक परिहार करके महामान्य स्वय को सर्वदा धो-मांज कर, ढाँक ढूँक कर, अन्य समस्त को इतर आख्या देकर घृणा करके हम लोग जिस तरह के भाव से चले थे, उसे आध्यात्मिक बाबूगीरी कहते हैं—इस तरह की अतिविलासिता से मनुष्यत्व क्रमश: अकर्मण्य और बन्ध्या हो जायगी।

जड पदार्थ को ही कांच के आवरण के भीतर ढँक कर रक्खा जाता है। जीव को भी यदि अत्यन्त परिष्कृत रखने के लिए निर्मल स्फटिक आच्छादन के भीतर रक्खा जाय तो उस स्थिति मे धूलि को तो अवश्य रोका जा सकेगा परन्तु उसके साथ ही स्वास्थ्य को भी अवरुद्ध करना होगा, मलिनता एव जीवन दोनों का ही यथा सम्भव ह्रास कर देना होगा।

हमारे पडितो ने कह रक्खा है, हम लोगों ने जो एक आश्चर्यजनक आर्य पवित्रता प्राप्त की है, वह वहु साधारण का धन है वह अत्यन्त यत्न से रक्षा करने योग्य है, इसीलिए हम लोग म्लेच्छ यवनों के सम्पर्क को सर्वतोभाव से परित्याग करने की चेष्टा करते रहते है।

इस सम्बन्ध मे दो बातें कहने की हैं। प्रथम, हम सभी विशेषरूप मे पवित्रता की चर्चा करते रहते हैं, ऐसा नही है, अथच अधिकाश मानव जाति को अपवित्र समझना एक पूणरूप से अनुचित विचार अमूलक अहकार, परस्पर के बीच अनर्थक व्यवधान की सृष्टि करना है। इस पवित्रता की दुहाई देकर यह विजातीय मानव घृणा हमारे चरित्र के भीतर जो कीडे (घुन) की तरह काम करती है उसे बहुत से लोग अस्वीकार करते हैं। वे लोग अम्लान मुख से कहते हैं, क्यो, हम लोग घृणा क्यो करें ? हमारे तो शास्त्र मे ही है, वसुधैव कुटुम्बकम्। शास्त्र मे क्या है और बुद्धिमानो की व्याख्या मे क्या टिकता है, यह विचारणीय नही है, परन्तु आचरण मे क्या प्रकट होता है एव उस आचरण का आदिम कारण कुछ भी रहे उसमे सर्व साधारण के चित्त मे स्वभावत मानव-घृणा की उत्पत्ति होती है या नही एव किसी एक जाति के अपामर साधारण स दूसरी सम्पूर्ण जाति बिना विचारे ही घृणा करने की अधिकारी है या नही, इसी को विवेचना करके देखना होगा।

और एक बात है, जड पदार्थ ही वाह्य मलिनता से कलकित होता है। शौकीनी की पोषाक को पहिन कर जब घूमते हैं तब बडी सावधानी से चलना पडता है। कहीं धूल न लग जाय, पानी न लग जाय, किसी

तरह का दाग न लग जाय, बड़ी सावधानी से आसन ग्रहण करना पड़ता है। पवित्रता यदि पोषाक हो तभी डरते डरते रहना पड़ता है कि कही छून लग जाने से काली न हो जाय, उसकी हवा लगने से दाग पड जायगा। ऐसी एक पोषाकी-पवित्रता को लेकर संसार मे रहना कैसी विषम विपत्ति है। जन-समाज के रण क्षेत्र मे, कर्म क्षेत्र मे एव रङ्ग-भूमि मे इस परिपाटी की पवित्रता को सम्भाले हुए चलना अत्यन्त कठिन होने के कारण पवित्रवायु ग्रस्त अभागे जीव अपने विचरण-क्षेत्र को अत्यन्त सकीर्ण बना लेते हैं, स्वय को कपड़े-लत्ता की तरह सदैव सिन्दूक के भीतर डाले रखते हैं, मनुष्य का परिपूर्ण विकास कभी भी उसके द्वारा सम्भव नही होता।

आत्मा की आन्तरिक पवित्रता के प्रभाव से बाह्य मलिनता की नियत् परिमाण मे उपेक्षा न करने से नहीं चलता। अत्यन्त रूप प्रयासी व्यक्ति वर्ण विकार के भय से पृथ्वी की धूलि-मिट्टी पानी धूप, हवा से सर्वदा डरता हुआ चलता है एव मक्खन का पुतला बन कर निरापद स्थान मे विराजता है, भूल जाता है कि वर्ण-सौकुमार्य सौन्दर्य का एक बाह्य उपादान है, परन्तु स्वास्थ्य उसकी एक प्रधान आभ्यन्तरिक प्रतिष्ठा भूमि है—जड के लिए यह स्वास्थ्य अनावश्यक है सुतरा उसे ढँके रखने में हानि नही है। परन्तु आत्मा को यदि मृत न समझा जाय तो नियत् परिमाण में मलिनता की आशका रहने पर भी उसके स्वास्थ्य के उद्देश्य से, उसके बल उपार्जन के उद्देश्य से उसे साधारण जगत् के सम्पर्क मे लाना आवश्यक है।

आध्यात्मिक बाबूगीरी की बात का व्यवहार क्यो किया था, इसी जगह उसे समझा जा सकेगा। अतिरिक्त बाह्य-सुख-प्रियता को ही विलासिता कहते हैं, उसी तरह अतिरिक्त बाह्य-पवित्रता-प्रियता को आध्यात्मिक विलासिता कहते हैं। थोडा सा खाना सोना, बैठना इधर-उधर होते ही जो सुकुमार पवित्रता क्षुण्ण हो जाय, वह बाबूगीरी का अङ्ग है। एव सब प्रकार की बाबूगीरी मनुष्यत्व के लिए बल-वीर्य-

नाशक है ।

संकीर्णता एवं निर्जीवता बहुत परिमाण मे निरापद है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती । जिस समाज मे मानव-प्रकृति की सम्यक स्फूर्ति एवं जीवन का प्रवाह है, उस समाज को बहुत उपद्रव सहने पड़ते है, यह बात सत्य है । जहाँ पर जीवन अधिक है, वहाँ स्वाधीनता अधिक हैं एव वहाँ पर वैचित्र्य भी अधिक है । वहाँ पर अच्छे बुरे दोनो ही प्रबल हैं । यदि मनुष्य के नख-दांत उखाड कर, आहार कम करके, दोनो समय चाबुक का भय दिखाया जाय, तो एक झुण्ड चलत-शक्ति-रहित अति निरीह पालतू प्राणी की सृष्टि होगी, जीवस्वभाव के वैचित्र्य का एकदम लोप हो जायगा, देख कर लगेगा, भगवान ने इस पृथ्वी को एक प्रकाण्ड पिंजडे के रूप मे निर्मित किया है, जीव की आवास भूमि बनाकर नहीं ।

परन्तु समाज की जो सब पुरानी धात्री (दाइयाँ) है, वे मन मे सोचती है, स्वस्थ बालक दुरन्त होता है एव दुरन्त बालक कभी रोता है, कभी दौड धूप करता है, कभी बाहर जाना चाहता है, उसे लेकर बड़ा झंझट रहना है, अतएव उसके मुँह मे थाडी सी अफीम डाल कर उसे यदि मृतप्राय करके रक्खा जाय तो अधिक निश्चिन्तता से गृह-कार्य किया जा सकता है ।

समाज जितनी ही उन्नति लाभ करता है, उतनी ही उसके दायित्व एव कर्तव्य की जटिलता स्वभावत ही बढती जाती है । यदि हम लोग कहे कि हम इतना नहीं कर सकते, हम मे इतना उद्यम नहीं है, शक्ति नहीं है, यदि हमारे पिता-माता कहे पुत्र-कन्याओ की उपयुक्त आयु तक मनुष्यत्व की शिक्षा देने मे हम असमर्थ हैं, परन्तु मनुष्य के पक्ष मे जितना शीघ्र सम्भव हो (यही क्यो, असम्भव भी कहा जा सकता है) हम पिता-माता बनने के लिए प्रस्तुत हैं, यदि हमारे छात्र वृन्द कहे, संयम हमारे लिए असाध्य हैं, शरीर-मनकी सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करने मे हम लोग नितान्त ही असमर्थ हैं, असमय मे अप-

वित्र दाम्पत्य हमारे लिए अत्यावश्यक है एव हिन्दूपन का भी यही विधान है. हम लोग उन्नति नही चाहते, झंझट नहीं चाहते, हम लोग इसी तरह से अधिक ठीक हैं—तो निरुत्तर रह जाना पडेगा। परन्तु यह बात कहनी ही पडेगी कि हीनता को हीनता कह कर अनुभव करना भी अच्छा है, परन्तु बुद्धि-बल से निर्जीवता को साधुता एव अक्षमता को सर्वश्रेष्ठता कहकर प्रतिपन्न करने से सद्गति के मार्ग को एकदम चारो ओर से बन्द कर देना होगा।

सर्वाङ्गीण मनुष्यत्व के प्रति यदि हमारी श्रद्धा और विश्वास रहे तो इतनी बातें नही उठेंगी। वैसा होने पर कौशल-साध्य-व्याख्या द्वारा स्वय को भुलाकर जितने ही सकीर्ण बाह्य-सस्कारो के बीच स्वय को बाँध रखने की प्रवृत्ति ही नही होगी।

हम लोग जब एक जाति की तरह जाति थे, तब हममे युद्ध, वाणिज्य, शिल्प, देश-विदेश मे आवागमन, विजातीयो के साथ विविध विद्याओ का आदान-प्रदान, दिग्विजयी बल एवम् विचित्र ऐश्वर्य था। आज बहुत सी वर्षों एवम् बहुत से प्रभेदों के व्यवधान से काल के सीमात देश मे हम लोग उस भारत-सम्यता को पृथ्वी से अतिदूरवर्ती एक तपःपूत होम धूम रचित अलौकिक समाधि-राज्य की भाँति देख पाते हैं एवम् अपने इन वर्तमान स्निग्धच्छाया, कर्महीन, निद्रालस, निस्तब्ध गाँवों के साथ उसका कितना ही ऐक्य अनुभव करते रहते हैं—परन्तु यह कभी भी स्वाभाविक नही है।

हम लोग जो कल्पना करते है हमारी केवल आध्यात्मिक सभ्यता थी, हमारे उपवास-क्षीण पूर्वज प्रत्येक अकेले बैठे-बैठे अपनी-अपनी जीवात्मा को हाथ मे लिए केवल धार धरते रहते थे। उसे एकदम कर्मातीत अतिसूक्ष्म ज्योति की रेखा बना देने के प्रयत्न मे—यह नितान्त कल्पना है।

हमारी वह सर्वाङ्ग सम्पन्न प्राचीन सभ्यता बहुत दिन हुए पञ्चत्व को प्राप्त हो गई है, हमारा वर्तमान समाज उसी की प्रेतयोनि मात्र

है। अपने अवयव, सादृश्य से डरते हुए हम लोग सोचते है। हमारी प्राचीन सभ्यता मे ऐसी देह का लेशमात्र भी नही था, केवल एक छायामय आध्यात्मिकता थी, उसमे क्षिति, जल, तेज का सम्बन्ध मात्र नही था। केवल थोडी सी हवा और आकाश था।

एक महाभारत को पढकर ही देखा जा सकता है, हमारी उस समय की सभ्यता म जीवन का आवेग कितना बलवान था। उसके भीतर कितने परिवर्तन, कितने समाज-विप्लव कितने विरोधी-शक्तियो के सघर्ष दिखाई पडते हैं। वह समाज किसी एक परम बुद्धिमान शिल्प चतुर आदमी के अपने हाथो से निर्मित अति सुचारु परिपाटी का समभाव विशिष्ट यन्त्र का समाज नही था। उस समाज मे एक ओर लोभ, हिंसा, भय, द्वेष, असयत अहकार था। दूसरी ओर विनय वीरत्व, आत्म विसर्जन, उदार महत्व एवम् अपूर्व साधुभाव मनुष्य चरित्र को सर्वदा मथित करके जाग्रत् बनाये रखता था। उस समाज मे सभी पुरुष साधु सभी स्त्रियाँ सती सभी ब्राह्मण तपः परायण नही थे। उस समाज मे विश्वामित्र क्षत्रिय थे, कुन्ती सती थी, क्षमापरायण युधिष्ठिर क्षत्रिय पुरुष थे एवं शत्रु-लोलुपा तेजस्विनी द्रौपदी रमणी थी। उस समय का समाज अच्छे-बुरे, अधेरे-उजाले के जीवन-लक्षणों से परिपूर्ण था, मानव-समाज चिन्हित विभक्त सयक्त समाहित कारुकार्य की भाँति नही था। एवम् उस विप्लव-सक्षुब्ध विचित्र मानव-वृत्ति के सघात द्वारा सर्वदा जाग्रत्-शक्ति पूर्ण समाज के भीतर हमारी प्राचीन व्यूढोरस्क शाल-पाशु सभ्यता उन्नत मस्तक से विहार करती थी।

उस प्रवल वेगवान सभ्यता को आज हम नितान्त निरीह, निर्विरोध, निर्विकार, निरापद, निर्जीव भाव मे कल्पना करके कहते हैं, 'हम लोग वही सभ्य जाति हैं, हम लोग वही आध्यात्मिक आर्य हैं; हम लोग केवल जप तप करेंगे, मसला-मसली करेंगे; समुद्र-यात्रा निषिद्ध करके, भिन्न जाति को अस्पृश्य श्रेणी मे रखकर, हम लोग उस महत् प्राचीन हिंदू नाम की सार्थकता का साधन करेंगे।

परन्तु इसकी अपेक्षा यदि सत्य को स्नेह करें, विश्वास के अनुसार कार्य करें, घर के बच्चों को राशिकृत झूठ के भीतर गोलमाल को गल-ग्रह की भांति न बना कर, सत्य की शिक्षा से सरल सबल दृढ करके सिर उठाकर खडाकर सके, यदि मन के भीतर ऐसी निरभिमान उदारता की चर्चा कर सकें जो चारो ओर से ज्ञान एवं महत्त्व को सानन्द, सविनय, सादर सम्भाषण करके ला सके, यदि सङ्गीत, शिल्प,साहित्य, इतिहास विज्ञान प्रभृति विविध विद्याओं की आलोचना करके देश विदेश मे भ्रमण करके पृथ्वी पर सर्वत्र सूक्ष्म निरीक्षण करके एवं मनोयोग पूर्वक निरपेक्ष भाव से विचार करके स्वय को चारो ओर से उन्मुक्त विकसित करके उठा सकें, तो मैं जिसे हिन्दूपन कहता हूँ, वह पूर्णरूप से टिक सकेगा या नहीं, इसे नही कह सकता, परन्तु प्राचीन काल मे जो सजीव, सचेष्ट तेजस्वी हिन्दू-सभ्यता थी, उसके साथ बहुत कुछ अपनों का ऐक्य-साधन कर सकूँगा।

यहाँ पर मेरे मन में एक तुलना उदय हो रही है। वर्तमान काल मे भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता खान के भीतर पत्थर के कोयले जैसी है। किसी समय जब उसके भीतर ह्रास-वृत्ति के आदान-प्रदान का नियम वर्तमान था, तब वह विपुल अरण्य के रूप में जीवित थी। उस समय उसके भीतर वसन्त वर्षा का सजीव समागम एव फल-पुष्प-पल्लवों का स्वाभाविक विकास था। अब उसकी और वृद्धि नही है, गति नही है, जो कहते हैं, वह अनावश्यक है, ऐसा नहीं है। उसके भीतर बहुयुगीन उत्ताप और आलोक निहितभाव मे विराज रहा है। परन्तु हमारे समीप वह अन्धकारमय शीतल है। हम लोग उससे केवल खेल की तरह घने कृष्णवर्ण अहंकार के स्तम्भ का निर्माण कर रहे हैं। कारण, अपने हाथ मे यदि अग्नि-शिखा न हो तो केवल मात्र गवेषणा द्वारा पुराकालीन तल मे गड्ढा खोद कर कितने ही प्राचीन खनिज पिण्ड संग्रह करके, लाये जा सकते हैं, क्योकि वह नितान्त अकर्मण्य है। उन्हें भी स्वय संग्रह करके लाया जा रहा हो, वह भी नही है। अँग्रेजो की रानीगज की

वाणिज्यशाला से खरीद कर ला रहे है। उसमे दुःख नही है, परन्तु कर क्या रहे है! अग्नि नही है, केवल फूँक मार रहे है, कागज हिलाकर हवा कर रहे हैं और कोई तो उसके कपाल पर सिन्दूर मलकर सामने बैठा हुआ भक्तिभाव से घण्टा ही हिला रहा है।

अपने भीतर सजीव मनुष्यत्व रहने पर ही प्राचीन एवम् आधुनिक मनुष्यत्व को, पूर्व और पश्चिम के मनुष्यत्व को अपने व्यवहार मे लाया जा सकता है।

मृत मनुष्य ही जहाँ पर पड़ा हुआ है सम्पूर्ण रूप से उसी स्थान का है। जीवित मनुष्य दसो दिशाओ के केन्द्रस्थल मे है; वह भिन्नता के भीतर ऐक्य एव विपरीत के भीतर सेतु स्थापित करके सभी सत्यो के भीतर अपना अधिकार फैलाता है; एक ओर न झुककर, चारो ओर प्रसारित होने को ही वह अपनी यथार्थ उन्नति समझता है।

भारतवर्ष का इतिहास

भारतवर्ष के जिस इतिहास को हम पढते हैं एव कण्ठस्थ करके परीक्षा देते हैं, वह भारतवर्ष के निशीथ काल का एक दुःस्वप्न कहानी-मात्र है। कहाँ से कौन लोग आये, काटा-काटी, मारा-मारी पड गई। पिता-पुत्र मे, भाई भाई मे सिंहासन को लेकर खींचतान चलने लगी, एक दल यदि जाता था, तो कहीं से दूसरा दल उठ पडता था—पठान, मुगल, पोर्तुगीज, फ्रांसीसी, अंग्रेज सभी ने मिलकर इस स्वप्न को उत्तरोत्तर जटिल बना डाला है।

परन्तु इस रक्त वर्ण से रंजित परिवर्तनमान स्वप्न दृश्य-पट के द्वारा भारतवर्ष को आच्छन्न करके देखने पर यथार्थ भारतवर्ष को नहीं देखा जा सकता। भारतवासी कहाँ हैं, केवल जिन लोगो ने मार-काट, खूना-खूनी की, वे ही हैं।

उस जमाने के दुर्दिनो मे भी यह मार-काट, खूना-खूनी ही भारतवर्ष का प्रधानतम व्यापार था, ऐसा नही है। आंधी के दिन आंधी ही सर्वप्रधान घटना थी, इसे उसकी गर्जन रहते हुए भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, उस दिन की उस धूलि समाच्छन्न आकाश के बीच गाँव के घर घर मे जो जन्म मृत्यु, सुख दुख का प्रवाह चल रहा था, उसके ढँक जाने पर भी मनुष्य के लिए वही मुख्य है। परंतु विदेशी पथिक के लिए यह आंधी ही प्रधान है, यह धूलि जाल ही उसकी आँखो को और सर्वस्व को ग्रास करता है, कारण, वह घर के भीतर नही है, वह घर के बाहर है। इसीलिए विदेशी के इतिहास में इस धूलि की बात, आंधी की बात ही मिलती है, घर की बात तनिक भी नही मिलती। उस इतिहास को पढकर मन को लगता है, भारतवर्ष उस समय नहीं था, केवल मुगल-पठानो की गर्जन मुखर आंधी सूखे पत्तो की ध्वजा उठाकर उत्तर से दक्षिण एवम् पश्चिम से पूर्व मे चक्कर काटती हुई घूम रही थी।

परन्तु विदेश जिस समय था, देश भी उस समय था, अन्यथा इन सब उपद्रवो के बीच कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम इन सबको जन्म किसने दिया ? उस समय केवल दिल्ली एवम् आगरा ही थे, ऐसा नहीं है, काशी और नवद्वीप भी थे। उस समय यथार्थ भारतवर्ष के भीतर जीवन स्रोत बह रहा था, जिस चेष्टा की तरङ्गें उठ रही थीं, जो सामाजिक परिवर्तन घट रहे थे, उनका विवरण इतिहास मे नही मिलता।

परन्तु वर्तमान पाठ्य ग्रथो से बाहर उस भारतवर्ष के साथ ही हमारा योग है। उस योग का बहु वर्ष काल व्यापी ऐतिहासिक सूत्र के विलुप्त हो जाने पर हमारा हृदय आश्रय नहीं पायेगा। हम लोग भारतवर्ष के घास-पात या दूसरे पेड पर उग आने वाले पौधे नही हैं, बहुत सी शताब्दियों से हमारी शत-सहस्र जड़ें भारतवर्ष के मर्मस्थान पर अधिकार किए हुए हैं। परन्तु दुर्भाग्यक्रम से ऐसा इतिहास हम लोगों

को पढना पडता है कि ठीक उस बात को ही हमारे लडके भूल जाते हैं। लगता है, भारतवर्ष के भीतर हम लोग जैसे कुछ भी नही हैं, आगन्तुक वर्ग ही जैसे सब कुछ है।

अपने देश के साथ अपना सम्बन्ध इस तरह अकिंचित्कर रूप मे जानकर, हम लोग कहाँ से प्राण आकर्षित करेगे। ऐसी अवस्था मे विदेश को स्वदेश के स्थान पर बैठाने मे हमारे मन मे द्विधा तक नहीं होती, भारतवर्ष के अगौरव से हमे प्राणान्तकर लज्जा का अनुभव भी नही हो पाता। हम लोग अनायास ही कह देते हैं, पहले हमारा कुछ भी नही था, एव अब हम लोगो को भोजन वस्त्र, आचार, व्यवहार सभी कुछ विदेशियो के पास से भीख माँग कर लेना होगा।

जो सब देश भाग्यवान हैं, वे चिरन्तन स्वदेश को देश के इतिहास के भीतर ही ढूँढ कर पा लेते हैं, बाल्यावस्था मे इतिहास ही देश के साथ उनका परिचय साधन करा देता है। हमारा ठीक उसका उल्टा है। देश का इतिहास ही हमारे स्वदेश को आच्छन्न करके रक्खे हुए है। महमूद के आक्रमण से लार्ड कर्जन के साम्राज्यगर्वोद्गार-काल पर्यन्त जो कुछ इतिहास कथा है, वह भारतवर्ष के पक्ष मे विचित्र कुहेलिका है, वह स्वदेश के बारे मे हमारी दृष्टि को सहायता नही पहुँचाती, मात्र दृष्टि को आवृत्त किए रखती है। वह ऐसे स्थान पर कृत्रिम प्रकाश डालती है, जिससे हमारे देश की दिशा ही हमारी आँखो मे स्याह बन जाती है। उस अन्धकार के भीतर नवाब की विलासशाला के दीपालोक मे नर्तकी के मणिभूषण जगमग उठते हैं, बादशाह के सुरापात्र की रक्तिम फेनोच्छ्वास उन्मत्तता का जागररक्त दीप्त नेत्रो की भाँति दिखाई देता है। उस अन्धकार मे हमारे सभी प्राचीन देवमन्दिर मस्तक ढँक लेते हैं, एव सुल्तान प्रेयसियो, के सङ्गमरमर-रचित कारुखचित कब्र चूडा नक्षत्रलोक का चुम्बन करने को उद्यत होते हैं। उस अन्धकार के भीतर घोड़ो के खुर की आवाज, हाथियो की चिंघाड, अस्त्रो की झकार, सुदूरव्यापी शिविरो की तरङ्गित पाण्डुरता, वीभत्साव के अस्त-

रण की स्वर्णच्छटा, मस्जिदो के फेनबुदबुदाकार पाषाण-मण्डप, खोजा-प्रहरियो से रक्षित प्रासाद अन्त.पुर मे रहस्य-निकेतन का निस्तब्ध-मौन, यह सभी विचित्र शब्द और वर्ण और भावों से जिस प्रकाण्ड इन्द्रजाल की रचना करते हैं उसे भारतवर्ष का इतिहास कहने मे क्या लाभ है? उसने भारतवर्ष के पवित्र-मन्त्रो की पुस्तको को एक अपरूप अरब्योपन्यास मे मोडकर रख दिया है उन पुस्तको को कोई नही खोलता, उस अरब्योपन्यास की प्रत्येक पंक्ति को ही लडके कण्ठस्थ कर लेते हैं। उसके बाद प्रलय-रात्रि मे यह मुगल साम्राज्य जब मूर्छित था, उस समय श्मशान स्थल पर दूर से आये हुए गिद्धो मे आपस मे ही जो सब चातुरी, प्रवचना, मारकाट मची, वह भी क्या भारतवर्ष का इतिवृत्त है? और उसके बाद से पाँच-पाँच वर्षो मे विभक्त चौकोर खानो वाली शतरन्ज के समान अँग्रेज़ी शासन, इसके भीतर भारतवर्ष और भी क्षुद्र है; वस्तुतः शतरंज के साथ इसका अन्तर यही है कि इसके घर काले सफेद समान रूप से विभक्त नही हैं, इसके पन्द्रह आना भर सफ़ेद ही हैं। हम लोग पेट के अन्न के विनिमय मे सुशासन, सुविचार, सुशिक्षा सभी कुछ एक बडे 'ह्वाइट वे लैंड लॉ की' दूकान से खरीद लेते हैं, और सब दूकानों के दरवाजे बन्द हैं। इस कारखाने के विचार से लेकर वाणिज्य तक सभी कुछ श्रेष्ठ हो सकते हैं, परन्तु इसके भीतर किरानी-खाना के एक कोने मे हमारे भारतवर्ष का स्थान अति यत्सामान्य है।

इतिहास सभी देशो मे एक सा होगा ही, इस कुसस्कार का वर्णन किये बिना नहीं चलेगा। जो व्यक्ति रथचाइल्ड की जीवनी पढकर पक्का हो गया है, वह ख्रीष्ट की जीवनी के समय उनके हिसाब के खातापत्र और आफिस की डायरी को तलब कर सकता है; यदि संग्रह न कर सके तो उसे अवज्ञा उत्पन्न होगी और वह कहेगा, जिसकी एक पैसे भर सङ्गति नही थी। उसकी जीवनी फिर किसलिए? उसी तरह भारतवर्ष के राष्ट्रीय दफ्तर से उसकी राजवंशमाला और के कागजपत्र न पाकर जो लोग भारतवर्ष के इतिहास मे

निराश हो बैठते हैं और कहते हैं, जहाँ पर पालिटिक्स नहीं है, वहाँ फिर हिस्ट्री किसकी होगी, वे लोग धान के खेत में बैंगन ढूँढने को जाते हैं और न पाकर मन के क्षोभ से धान को शस्य के भीतर गणना ही नही करते। सभी खेतों की खेती एक सी नहीं होती इसे जानकर जो व्यक्ति उपयुक्त स्थान पर शस्य की प्रत्याशा करते हैं, वे ही समझदार हैं।

यीशुख्रीष्ट के हिसाब का खाता देखकर उन्हे अवज्ञा हो सकती है। परन्तु उनके अन्य विषयों की खोज करने पर खाता-पत्र सब नगण्य हो जाते हैं। उसी तरह राष्ट्रीय व्यापार मे भारतवर्ष को दीन के रूप मे जानकर भी अन्य विशेष दिशा की ओर से उस दीनता को तुच्छ किया जा सकता है। भारतवर्ष की उस अपनी दिशा की ओर से भारतवर्ष को न देखकर हम लोग बचपन से ही उसे खर्व कर रहे हैं और स्वयं खर्व हो रहे हैं। अंग्रेजों के बच्चे जानते हैं, उनके पिता पितामह ने अनेक युद्धो मे विजय पाकर देशो पर अधिकार और वाणिज्य व्यवसाय किया है, वे भी स्वयं को रण गौरव, धन गौरव, राज-गौरव का अधिकारी करना चाहते हैं। हम जानते हैं, हमारे पितामहों ने देशो पर अधिकार और वाणिज्य विस्तार किया ही नही। इसी को बताने के लिए भारतवर्ष का इतिहास है। उन्होने क्या किया था सो नहीं जानते, सुतरां हम लोग क्या करेंगे, इसे भी नहीं जानते। सुतरां पराया की नकल करनी होगी। इसके लिए किसे दोष दें? बचपन से ही हम लोग जिस प्रणाली से जिस शिक्षा को पाते हैं, उससे प्रतिदिन देश के साथ हमारा विच्छेद होकर, क्रमश: देश के विरुद्ध हमारा विद्रोह भाव जन्म लेता है।

हमारे देश के शिक्षित लोग भी क्षण क्षण पर हतबुद्धि की भाँति कह उठते हैं, देश तुम किसे कहते हो, हमारे देश का विशेष भाव क्या है, वह कहाँ था? प्रश्न करके इसका उत्तर नहीं मिल पाता। कारण, बात इतनी सूक्ष्म, इतनी वृहत् है कि यह केवलमात्र

युक्ति के द्वारा बोधगम्य नहीं है । अंग्रेज कहो, फ्रांसीसी कहो, किसी भी देश के लोग अपना देशीय भाव क्या है, देश का मूल मर्मस्थान कहाँ है, उसे एक बात मे व्यक्त नहीं कर सकते, वह देह स्थित प्राण की भाँति प्रत्यक्ष सत्य अथच प्राण की भाँति सज्ञा और धारणा के पक्ष मे दुर्गम है । वह शिशुकाल से ही हमारे ज्ञान के भीतर है, हमारे प्रेम के भीतर है, हमारी कल्पना के भीतर नाना अलक्ष्य पथो से नाना आकार मे प्रवेश करता है । वह अपनी विचित्र शक्ति से हम लोगो को निगूढ-भाव से गढता है; हमारे अतीत के साथ वर्तमान का व्यवधान नही घटने देता; उसकी कृपा से हम वृहद् हैं, हम विच्छिन्न नहीं हैं । इस विचित्र उद्यम-सम्पन्न गुप्त पुरातनी शक्ति को सशयी जिज्ञासु के समीप हम लोग सज्ञा के द्वारा दो-चार बातो मे व्यक्त किस तरह कर सकते हैं ?

भारतवर्ष की प्रधान सार्थकता क्या है, इस बात का स्पष्ट उत्तर यदि कोई पूछे तो उत्तर है, भारतवर्ष का इतिहास उस उत्तर का ही समर्थन करेगा । भारतवर्ष की सदैव से एकमात्र चेष्टा दिखाई पडती है, प्रभेद के भीतर ऐक्य स्थापित करने की, अनेक मार्गों को एक ही लक्ष्य के अभिमुखीन कर देना एवम् बहु के भीतर एक को निसशय रूप मे अन्तररूप मे उपलब्ध करना, बाहर जो सब पार्थक्य प्रतीय मान होता है उसे नष्ट किए बिना उसके भीतरी निगूढ योग पर अधिकार करना ।

यही एक को प्रत्यक्ष करना एव ऐक्य विस्तार की चेष्टा करना ही भारतवर्ष के लिए एकान्त स्वाभाविक है । उसके इस स्वभाव ने ही उसे चिरदिन राष्ट्र-गौरव के प्रति उदासीन किया है । कारण, राष्ट्र-गौरव के मूल मे विरोध का भाव है । जो लोग पर को एकान्त पर कह कर सर्वन्तःकरण से अनुभव नही करते, वे लोग राष्ट्र-गौरव-लाभ को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप मे अनुभव नही कर पाते । पर के विरोध में अपने को प्रतिष्ठित करने की जो चेष्टा है, वही पॉलिटिकल उन्नति की भित्ति है, एवम् पर के साथ अपना सम्बन्ध बन्धन और स्वयं के

भीतरी विचित्र विभाग और विरोध के बीच सामंजस्य-स्थापन की चेष्टा यही धर्मनैतिक और सामाजिक उन्नति की भित्ति है। यूरोपीय सभ्यता ने जिस ऐक्य का आश्रय लिया है, वह विरोध-मूलक है। भारतवर्ष की सभ्यता ने जिस ऐक्य का आश्रय लिया है, वह मिलन-मूलक है। यूरोपीय पलिटिकल ऐक्य के भीतर जो विरोध की फांस है वह उसे पर के विरुद्ध खींचे रख सकती है, परन्तु उसे अपने भीतर सामंजस्य नहीं दे पाती। इसीलिए वह व्यक्ति से व्यक्ति मे, राजा प्रजा मे, धनी से दरिद्र मे, विच्छेद और विरोध को सर्वदा जाग्रत् ही किए रखती है। वे लोग सभी मिलकर अपने-अपने निर्दिष्ट अधिकार के द्वारा समग्र समाज को वहन कर रहे हो, ऐसा नहीं है, वे एक दूसरे के प्रतिकूल हैं—जिससे किसी पक्ष की बल-वृद्धि न हो सके, उपर पक्ष की यही प्राणपण से सतर्क चेष्टा रहती है। परन्तु सब मिल कर जिस जगह ठेलाठेली करते हैं, वहाँ बल का सामंजस्य नहीं हो पाता; वहाँ कालक्रम से जनसख्या योग्यता की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं एवम् वाणिज्य की धन सहति गृहस्थ के धन-भण्डारो को अभिभूत कर डालती है; इस तरह से समाज का सामजस्य नष्ट हो जाता है एव इन सब विसदृश विरोधी अङ्गों को किसी तरह जोड-तोड कर रखने के लिए गवर्नमेन्ट केवल कानून के बाद कानून बनाती रहती है। यह अवश्यम्भावी है। कारण विरोध जिसका बीज होगा, विरोध ही उसकी खेती होगी; बीच मे जिस परिपुष्ट पल्लवित व्यापार को देखा जाता है, वह इस विरोध-शस्य का ही प्राणवान बलवान वृक्ष है।

भारतवर्ष ने विसदृश को भी इस सम्बन्ध-बन्धन में बाँधने का प्रयत्न किया है। जहाँ पर यथार्थ पार्थक्य है, वहाँ उस पार्थक्य को यथायोग्य स्थान पर विन्यस्त करके, संयत करके ही उसे ऐक्यदान करना सम्भव है। सभी एक हो जाएँ इसलिए कानून बना देने से ही एक नहीं हो जाते। जो लोग एक होने के नहीं हैं, उनके भीतर सम्बन्ध स्थापन का उपाय (उन्हें पृथक् अधिकार के बीच विभक्त कर देना है। पृथक् को

बल पूर्वक एक करने से वे एक दिन बलपूर्वक विच्छिन्न हो जाते हैं। उस विच्छेद के समय प्रलय होती है। भारतवर्ष मिलन साधन के इस रहस्य को जानता है। फ्रांसीसी विद्रोह ने शारीरिक-बल से मानव के समस्त पार्थक्य को रक्त देकर धो डालने की स्पर्धा की थी, परन्तु फल उल्टा हुआ था, यूरोप मे राजशक्ति, प्रजाशक्ति, धनशक्ति, जनशक्ति, क्रमश अत्यन्त विरुद्ध हो उठती हैं। भारतवर्ष का लक्ष्य था, सब को एक सूत्र मे बांधना, परन्तु उसका उपाय था स्वतन्त्र। भारतवर्ष ने समाज की सभी प्रतियोगी, विरोधी शक्ति को सीमाबद्ध और विभक्त करके समाज-कलेवर को एक एव विचित्र कर्म के लिए उपयोगी बनाया था, अपने अपने अधिकार का क्रमश उल्लघन करने की चेष्टा करके विरोध विश्रृंखला को जाग्रत नहीं बनाये रखने दिया। पारस्परिक प्रतियोगिता के पथ से समाज की सम्पूर्ण शक्ति को दिन रात सग्राम परायण बनाकर, धर्म कर्म गृह सभी को आवर्तित (घूमा हुआ) दूषित उद्भ्रान्त करके नहीं रखा। ऐक्य निर्णय, मिलन साधन एव शान्ति और स्थिति के बीच परिपूर्ण परिणति और मुक्ति लाभ का अवकाश, यही भारतवर्ष का लक्ष्य था।

विधाता भारतवर्ष के भीतर विचित्र जाति को खींच लाये हैं। भारतवर्षीय आर्यों ने जिस शक्ति को पाया है, उस शक्ति की चर्चा करने का अवसर भारतवर्ष ने अति प्राचीनकाल से ही पा लिया था। ऐक्य-मूलक सभ्यता ही मानव जाति की चरम सभ्यता है, भारतवर्ष चिर-दिनों से विचित्र उपकरणों द्वारा उसकी भित्ति का निर्माण करता आ रहा है। पराया कह कर उसने किसी को भी दूर नहीं किया, अनार्य कहकर उसने किसी को भी बहिष्कृत नहीं किया, असगत कह कर उस ने किसी का भी उपहास नहीं किया। भारतवर्ष ने सभी को ग्रहण किया है, सभी को स्वीकार किया है। इतना ग्रहण करके भी आत्म रक्षा करनी पडी, इस पु जीभूत सामग्री के मध्य अपनी व्यवस्था, अपनी शृंखला स्थापित करनी पडी, पशु-युद्ध-भूमि में पशु दल की भांति इन

सब को एक दूसरे के ऊपर छोड देने से नहीं चल सकता । इन सब को विहित नियमों से विभक्त, स्वतन्त्र करके एक एक मूलभाव के द्वारा बांधना पड़ेगा। उपकरण कहीं के भी हो वह शृंखला भारतवर्ष की है। वह मूलभाव भारतवर्ष का है, यूरोप पर को दूर करके, उत्पाटन करके, समाज को निरापद रखना चाहता है—अमेरिका, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड, केपकलनी से उसका परिचय हमलोग आज तक पा रहे हैं। इसका कारण है, उसके अपने समाज के भीतर एक सुविहित शृंखला का भाव नहीं है, अपने स्वय के ही भिन्न सम्प्रदाय को वे यथोचित स्थान नहीं दे पाते एव जो लोग समाज के अङ्ग हैं। उनमें से बहुत से समाज के बोझ के समान हो गए हैं। ऐसी जगह मे बाहरी आदमी को वह समाज अपने किस स्थान मे आश्रय देगा? आत्मीय ही जहाँ पर उपद्रव करने को उद्यत हो। वहां बाहरी आदमी को कोई स्थान देना नही चाहता। जिस समाज मे शृंखला है। ऐक्य का विधान है। सबका स्वतन्त्र स्थान और अधिकार है, उसी समाज मे पर को अपना बना लेना सहज है। चाहे पर को काट कर, मारकर, भगाकर अपने समाज और सभ्यता की रक्षा की जाय। या पर को अपने विधान मे संयत करके सुविहित शृंखला के भीतर स्थान दे दिया जाय, इन दोनो तरीकों से काम चल सकता है। युरोप ने पहली प्रणाली का आश्रय लेकर समस्त विश्व के साथ विरोध को खुला रख छोड़ा है, भारतवर्ष ने दूसरी प्रणाली का अवलम्बन लेकर सभी को क्रम क्रम से धीरे धीरे अपना बना लेने की चेष्टा की है। यदि धर्म के प्रति श्रद्धा रहे, यदि धर्म को ही मानव सभ्यता के चरम आदर्श के रूप मे स्थिर किया जाय, तो भारतवर्ष की प्रणाली को ही श्रेष्ठता देनी होगी।

पर को अपना बनाने मे प्रतिभा की आवश्यकता है। अन्य के भीतर प्रवेश करने,की शक्ति एव अन्य को सम्पूर्णतः अपना बना लेने का इन्द्रजाल, यही प्रतिभा का निजस्व है। भारतवर्ष के भीतर उसी प्रतिभा को हमलोग देख पाते हैं। भारतवर्ष ने नि संकोच परायो के भीतर

प्रवेश किया है एवं अन्यास ही दूसरों की 'सामग्री' को अपना कर लिया है। विदेशी जिसे पौत्तलिकता कहते हैं, भारतवर्ष उसे देखकर डरता नहीं है, नाक नहीं सिकोडता है। भारतवर्ष ने पुलिन्द, शबर, व्याधि आदि के समीप से वीभत्स सामग्री ग्रहण करके उनके भीतर अपने भाव का विस्तार किया है, उनके भीतर भी अपनी आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त किया है। भारतवर्ष ने कुछ भी त्यागा नहीं है और ग्रहण करके सभी को अपना बना लिया है।

यह ऐक्य-विस्तार एवं शृंखला-स्थापन केवल समाज-व्यवस्था में नहीं है, धर्मनीति में भी दिखाई देता है। गीता में ज्ञान, प्रेम और कर्म के बीच जो सम्पूर्ण सामंजस्य स्थापन की चेष्टा दीखती है। वह विशेष रूप से भारतवर्ष की है। यूरोप में 'रिलीजन' नामक जो शब्द है, भारतीय भाषा में उसका अनुवाद असम्भव है, कारण भारतवर्ष ने धर्म के भीतर मानसिक विच्छेद पड़ने में बाधा दी है—हमारी बुद्धि, विश्वास, आचरण, हमारे इहकाल, परकाल सब को मिला कर ही धर्म है। भारतवर्ष ने उन्हें खण्डित करके किसी को पोशाकी और किसी को आठोंप्रहर पहनने योग्य वस्त्र नहीं बना रखा है। हाथ का जीवन, पांव का जीवन, माथे का जीवन, उदर का जीवन जिस तरह अलग नहीं है, विश्वास का धर्म, आचरण का धर्म, रविवार का धर्म, अन्य छः दिनों का धर्म, गिर्जा का धर्म एवं घर के धर्म में भारतवर्ष ने भेद नहीं कर रखा है। भारतवर्ष का धर्म सम्पूर्ण समाज का ही धर्म है, उसकी जड़ मिट्टी के भीतर है और मस्तक आकाश के भीतर है; उसकी जड़ को स्वतन्त्र और मस्तक को स्वतन्त्र रूप में भारतवर्ष नहीं देखता, धर्म को भारतवर्ष ने द्यु-लोक, भू-लोक व्यापी मानव के समस्त जीवन व्यापी एक वृहद् वनस्पति के रूप में देखा है।

पृथ्वी के सभ्य-समाज के भीतर भारतवर्ष नाना को एक करने के आदर्श रूप में विराज रहा है, उसके इतिहास से यही प्रतिपादित होगा। एक को विश्व के भीतर और स्वयं की आत्मा के भीतर अनुभव करके

उसी एक को विचित्र के भीतर स्थापित करना, ज्ञान के द्वारा आविष्कार करना, कर्म के द्वारा प्रतिष्ठित करना, प्रेम द्वारा उपलब्धि करना एवं जीवन के द्वारा प्रचार करना—अनेक बाधा विपत्ति, दुर्गति सुगति के बीच भारतवर्ष यही कर रहा है। इतिहास के भीतर से जब भारत के उसी चिरन्तन भाव को अनुभव करेंगे, तब हमारे वर्तमान के साथ अतीत का विच्छेद विलुप्त हो जायगा।

ब्राह्मण

सभी जानते हैं, सम्प्रति किसी महाराष्ट्री ब्राह्मण को उसके स्वामी ने जूता मारा था, उसका मामला उच्चतम न्यायालय तक पहुँचा था, अन्तिम न्यायाधीश ने मामले को तुच्छ कह कर उड़ा दिया था।

घटना इतनी लज्जाजनक थी कि मासिक पत्रों में हमने इसका उल्लेख नहीं किया। मार खाकर मारना उचित है अथवा रोना उचित है अथवा मुकद्दमा चलाना उचित है, ये सब आलोचनाएं अखबारों में हो गई थीं—उन सब बातों को भी हम नहीं उठाना चाहते। परन्तु इस घटना को उपलक्ष करके जिन सब गुरुतर चिन्ताओं के विषय हमारे मन में उठे थे, उन्हें व्यक्त करने का समय उपस्थित हुआ है।

न्यायाधीश ने इस घटना को तुच्छ बताया, देखने में भी ऐसा ही लगता है कि यह तुच्छ बात ही है, सुतरां उन्होंने अनुचित नहीं कहा। परन्तु इस घटना के तुच्छ रूप में गिने जाने से ही समझ में आता है कि हमारे समाज का विकार द्रुत वेग से अग्रसर हो रहा है।

अंग्रेज जिसे प्रैस्टिज अर्थात् अपना राजसम्मान कहते हैं, उसे मूल्य

ध्यान समझते रहते हैं। कारण, इस प्रेस्टिज की शक्ति अनेक समय सेना का काम करती है। जिसे चलाना हो, उसके निकट प्रेस्टिज रखनी चाहिए। बोअर-युद्ध के आरम्भ काल मे अग्रेजसाम्राज्य जब स्वल्प परिमित कृषक सम्प्रदाय के हाथो बारम्बार अपमानित हो रहा था, उस समय अग्रेज भारतवर्ष के भीतर जितना सकोच अनुभव करते थे, वैसा और कहीं नही करते थे। उस समय हम सभी समझ लेते थे कि अग्रेजो के बूट इस देश मे पहले की तरह अत्यन्त जोर से मच् मच् नही कर रहे हैं।

हमारे देश मे एक समय ब्राह्मण को वैसी ही एक प्रेस्टिज थी। कारण, समाज को चलाने का भार ब्राह्मण के ऊपर ही था। ब्राह्मण यथारीति इस समाज की रक्षा करते थे या नहीं एव समाज-रक्षा करते समय जो सब नि स्वार्थ महद्गुण रहने उचित हैं, वे सब उनमे हैं या नहीं, यह बात किसी के भी मन मे उदय नही हुई जब तक समाज मे उनकी प्रेस्टिज थी। अग्रेजो के पक्ष मे उनकी प्रेस्टिज जिस तरह मूल्यवान है, ब्राह्मण के पक्ष मे भी उनकी स्वय की प्रेस्टिज उसी तरह की है।

हमारे देश मे समाज जिस भाव से गठित है, उससे समाज के पक्ष में भी इसकी आवश्यकता है। आवश्यकता होने के कारण ही समाज ने ब्राह्मण को इतना सम्मान दिया था।

हमारे देश मे समाज तन्त्र एक सुवृहत् व्यापार है। यही सम्पूर्ण देश को नियमित करके धारण किए हुए था। यही विशाल लोक-सम्प्रदाय को अपराध से, स्खलन से रक्षा करने का प्रयत्न करता आया था। यदि ऐसा न होता तो अग्रेज अपनी पुलिस और फौज द्वारा इतने बडे देश मे ऐसी आश्चर्यमय शान्ति स्थापित नहीं कर पाते। नवाबो बादशाहों के जमाने मे भी अनेक राजकीय अशान्ति के रहते हुए भी सामाजिक शान्ति चलती आई थी—उस समय भी लोक व्यवहार शिथिल नहीं हुआ था, आदान-प्रदान में सच्चाई की

रक्षा होती थी, झूठी गवाही निन्दित होती थी, ऋणी ऋणदाता को धोखा नहीं देता था एवं साधारण धर्म के विधान का सब लोग सरल विश्वास से सम्मान करते थे।

उस वृहत् समाज के आदर्श की रक्षा करने और विधि-विधान का स्मरण कराते रहने का भार ब्राह्मण के ऊपर था। ब्राह्मण इस समाज का चालक और व्यवस्थापक थे। इस कार्य-साधन के लिए उपयोगी सम्मान भी उन्हे प्राप्त था।

प्राच्य प्रकृति के अनुगत इस प्रकार के समाज-विधान को यदि निन्दनीय न समझा जाय तो इसके आदर्श को चिरकालतक विशुद्ध रखने और इसकी शृंखला स्थापित करने का भार किसी एक विशेष सम्प्रदाय के ऊपर डालना ही होगा। वे लोग जीवन यात्रा को सरल और विशुद्ध बना कर, अभाव को संक्षिप्त करके, अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन को ही व्रत मान कर जो सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है, उसके यथार्थ अधिकारी बनेंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

यथार्थ अधिकार से मनुष्य अपने ही दोष से भ्रष्ट होता है। अंग्रेजो के समय में भी यह दीख पडता है। देसी लोगो के प्रति अन्याय करके, जब प्रेस्टिज-रक्षा की दुहाई देकर अंग्रेज दण्ड से छुटकारा चाहता है, उस समय यथार्थ प्रेस्टिज के अधिकार से स्वय को वचित कर लेता है। न्यायपरता की प्रेस्टिज सब प्रेस्टिजो से बडी है, उसके समीप हमारा मन स्वेच्छा पूर्वक मस्तक झुका लेता है; विभीषिक हम लोगो की गर्दन पकड कर झुका देती है, उस प्रणति-अवमानना के विरुद्ध हमारे मन के भीतर-ही-भीतर विद्रोह हुए बिना नहीं रह पाता।

ब्राह्मण ने भी जब अपने कर्तव्य का परित्याग कर दिया है, तब केवल शारीरिक बल से, पर लोक का भय दिखाकर समाज के उच्चतम आसन पर अपनी रक्षा नही कर सकता।

कोई भी सम्मान बिना मूल्य का नही है, यथेच्छ काम करके सम्मान नहीं रक्खा जा सकता। जो राजा सिंहासन पर बैठते हैं, वे

दूकान खोल कर व्यवसाय को नहीं चला सकते। सम्मान जिनका प्राप्य है, उन्हीं को चारों ओर सदैव अपनी इच्छा को छोटा बना कर चलना पड़ता है। घर के अन्यान्य लोगों की अपेक्षा हमारे देश में घर-मालिक और घर मालकिन को ही सांसारिक विषयों से अधिक वंचित होना पड़ता है—घर की गृहिणी ही सबके अंत में भोजन पाती है। ऐसा न होने पर आत्मम्भरिता के ऊपर कर्तव्य की दीर्घकाल तक रक्षा नहीं की जा सकती। सम्मान भी प्राप्त करे और उसकी कोई कीमत भी न दे, यह कभी भी चिरकाल तक सहन नहीं होता।

हमारे आधुनिक ब्राह्मणों ने बिना मूल्य दिए सम्मान प्राप्त करने की वृत्ति का अवलम्बन कर लिया है। उससे उनका सम्मान हमारे समाज में उत्तरोत्तर मौखिक होता चला आया है। केवल यही नहीं, ब्राह्मण लोग समाज के जिस उच्च कर्म में नियुक्त थे, उस कर्म में शिथिलता लाने से समाज के भी संधि बंधन प्रतिदिन विश्लिष्ट होते आ रहे हैं।

यदि प्राच्य भाव से ही हमारे देश में समाज की रक्षा करनी पड़े, यदि यूरोपीय प्रणाली से इस बहु दिनों के वृहत् समाज को आमूल परिवर्तित करना सम्भव पर अथवा वाञ्छनीय न हो, तो यथार्थ ब्राह्मण सम्प्रदाय की एकान्त आवश्यकता है। वे लोग दरिद्र होंगे, पण्डित होंगे, धर्मनिष्ठ होंगे, सब प्रकार के आश्रम-धर्म के आदर्श और आश्रय स्वरूप होंगे और गुरु होंगे।

जिस समाज का एक दल धन मान की अवहेलना करना जानता है, विलास से घृणा करते हैं, जिनका आचार निर्मल है, धर्मनिष्ठा दृढ़ है, जो लोग निःस्वार्थ भाव से ज्ञान अर्जन और निःस्वार्थ भाव से ज्ञान वितरण में रत हैं—पराधीनता अथवा दारिद्र्य से उस समाज का कोई असम्मान नहीं है। समाज जिन्हें यथार्थ भाव से सम्माननीय बना देता है, समाज उन्हीं के द्वारा ही सम्मानित होता है।

सभी समाजों के मान्य व्यक्ति, श्रेष्ठ लोग अपने-अपने समाज के

स्वल्प होते हैं। इग्लैन्ड को जिस समय हम लोग धनी कहते हैं, उस समय अगण्य दरिद्र को हिसाब के भीतर नही लाते। यूरोप को जिस समय हम लोग स्वाधीन कहते हैं, उस समय उसके विपुल जन-साधारण की दु सह अधीनता को गिनते ही नही हैं। वहाँ पर ऊपर के कुछ लोग ही धनी हैं, ऊपर के कुछ लोग ही स्वाधीन हैं, ऊपर के कुछ लोग ही पाशवता से मुक्त हैं। ये ऊपर के ही कुछ लोग जब तक नीचे के बहुतर लोगो को सुख-स्वास्थ्य, ज्ञान, धर्म देने के लिए सर्वदा अपनी इच्छा का प्रयोग और अपने सुख को नियमित करते हैं, तभी तक उस सभ्य समाज को कोई भय नही है।

यूरोपीय समाज इस भाव से चल रहा है या नही, यह चर्चा मन को वृथा सी लग सकती है, परन्तु पूर्ण रूप से वृथा नहीं है।

जहाँ पर प्रतियोगिता की ताडना से बगल के आदमी को छोडकर उठने की आकाक्षा से प्रत्येक को प्रति मुहूर्त मे लडाई करनी पडती है, वहाँ पर कर्तव्य के आदर्श को विशुद्ध रखना कठिन है। एव वहाँ पर किसी एक सीमा मे आकर आशा को सयत करना भी लोगो के लिए दु साध्य हो जाता है।

यूरोप के बडे-बडे साम्राज्य एव दूसरे को लाँघ जाने की प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं, ऐसी हालत में यह बात किसी के भी मुँह से बाहर नही निकल सकती कि 'बरच' पीछे रहकर *प्रथम श्रेणी से दूसरी श्रेणी* में पडकर भी अन्याय नही करूँगा।' ऐसी बात भी किसी के मन मे नही आ सकती कि 'बरच, जल स्थल मे सैन्य-सज्जा कम करके राजकीय क्षमता से पडौसी के निकट लघुता स्वीकार कर लूँगा, परन्तु समाज के अभ्यन्तर मे सुख सन्तोष और ज्ञानधर्म का विस्तार करना होगा।' प्रतियोगिता के आकर्षण से जो वेग उत्पन्न होता है, उसके द्वारा उद्दामभाव से चलाया जा सकता है एव इस दुर्दान्त गति से चलाने को ही यूरोप मे उन्नति कहा जाता है, हमने भी उसी को उन्नति कहना सीख लिया है।

परन्तु जो चलना पग-पग पर ठहरने के द्वारा नियमित नहीं है, उसे उन्नति नहीं कहा जा सकता। जिस छन्द मे यति नहीं है, वह छन्द ही नहीं है। समाज के पदमूल मे समुद्र अहोरात्र तरंगित फेनायित हो सकता है, परन्तु समाज के उच्चतम शिखर पर शान्ति और स्थिति का चिरन्तन आदर्श सदैव विराजमान रहना चाहिए।

उस आदर्श की कौन लोग अटलभाव से रक्षा कर सकता है ? जो लोग पुरुषानुक्रम (वंशानुक्रम) से स्वार्थ के संघर्ष से दूर हैं, आर्थिक दारिद्रय मे ही जिनकी प्रतिष्ठा है, मंगल-कर्म को जो लोग पुण्य-द्रव्य की भाँति नहीं देखते, विशुद्ध ज्ञान और उन्नत धर्म के बीच जिनका चित्त अभ्रभेदी होकर विराज रहा है, एवं अन्य सब का परित्याग करके समाज के उन्नततम आदर्श की रक्षा करने के महान भार ने ही जिन्हें पवित्र और पूजनीय बना रक्खा है।

यूरोप मे भी अविश्राम कर्मालोडन के बीच-बीच मे कोई-कोई मनीषी व्यक्ति उठकर पूर्णगति के उन्मत्त नक्षों के बीच स्थिति के आदर्श, लक्ष्य के आदर्श, परिणति के आदर्श को पकड़े हुए हैं। परन्तु दो क्षण खड़े होकर सुनेगा कौन ? सम्मिलित प्रकाण्ड स्वार्थ के प्रचण्ड वेग को इस प्रकार के दो-एक व्यक्ति तर्जनी उठाकर किस तरह रोक सकेंगे ? वाणिज्य-जहाज के उनचास पालों मे हवा भर गई है, यूरोप के कोने में उन्मत्त दर्शकवृन्द के बीच पंक्ति बद्ध युद्ध के घोड़ों की घुड़-दौड़ चल रही है—अब क्षण भर के लिए कौन ठहरेगा ?

इस उन्मत्तता से, इस प्राणपण से अपनी शक्ति के एकान्त उद्घाटन से, आध्यात्मिकता का जन्म हो सकता है, ऐसा तर्क हमारे मन में भी उठता है। इस वेग का आकर्षण अत्यन्त अधिक है, यह हम लोगों को प्रलुब्ध करता है, यह प्रलय की ओर भी जा सकता है ऐसा सन्देह हम लोगों को नहीं होता।

ये किस तरह के हैं ? जैसे चोरधारी एक दल स्वयं को साधु और बाबा कह कर परिचय दे, वे लोग गाँजे के नशे को आध्यात्मिक आनन्द

प्राप्ति के साधन के रूप मे अनुभव करें। नशे से एकाग्रता का जो भाव होता है उत्तेजना होती है, परन्तु उससे आध्यात्मिक स्वाधीन सबलता का ह्रास होता रहता है। और सब कुछ छोडा जा सकता है, परन्तु इस नशे की उत्तेजना नहीं छोडी जा सकती, क्रमश मन का बल जितना कम होता जाता है, नशे की मात्रा भी उतनी ही बढानी पडती है। चक्कर खाकर, नृत्य करके अथवा जोर से बाजे बजाकर, स्वय को उद्भ्रान्त और मूर्छान्वित करके जिस धर्मोन्माद के विलास का उपभोग किया जाता है, वह भी कृत्रिम है। उसका अभ्यास पड जाने पर वह अफीम के नशे की भांति हम लोगो को अवसाद के समय केवल ताडना ही देता रहता है। आत्म समाहित शान्त एक-निष्ठ साधना के अतिरिक्त यथार्थ स्थायी मूल्यवान कोई वस्तु नहीं मिल पाती और स्थायी मूल्यवान किसी वस्तु की रक्षा भी नहीं हो पाती।

अथच आवेग से अतीत काम और काम से अतीत समाज नहीं चल सकता। इसीलिए भारतवर्ष ने अपने समाज में गति और स्थिति का समन्वय करना चाहा था। क्षत्रिय, वैश्य प्रभृति जो लोग हाथ मे कलम लेकर समाज का कार्य-साधन करते हैं, उनके कर्म की सीमा निर्दिष्ट थी। इसीलिए क्षत्रिय क्षात्र धर्म के आदर्श की रक्षा करके अपने कर्तव्य को धर्म के भीतर गिन सकते थे। स्वार्थ और प्रवृत्ति के ऊपर धर्म के ऊपर कर्तव्य की स्थापना करके काम के भीतर भी विश्राम एव आध्यात्मिकता के लाभ का अवकाश प्राप्त किया जा सकता है।

यूरोपीय समाज जिस नियम से चलता है, उससे गति-जनित एक विशेष आग्रह के मुँह मे अधिकांश लोगों को ठेल देता है। वहाँ पर बुद्धिजीवी लोग राष्ट्रीय मामलो मे ही झुक पडते हैं। साधारण लोगों मे अर्थोपार्जन ही भीड करता है। वर्तमान काल मे साम्राज्य-लोलुपता ने सबको ग्रस लिया है एव ससार को समेटकर लकाकाण्ड चल रहा है। ऐसा समय होना विचित्र नहीं है, जब विशुद्ध ज्ञान चर्चा यथेष्ट लोगों को आकर्षित नहीं करेगी। ऐसा समय आ सकता है, जब आवश्यक

आवश्यक है, जो लोग यथा सम्भव कर्म और स्वार्थ से स्वय को मुक्त रखें। वे ही ब्राह्मण हैं।

ये ब्राह्मण ही यथार्थ मे स्वाधीन हैं। ये ही यथार्थ स्वाधीनता के आदर्श की निष्ठा के साथ, कठोरता के साथ समाज मे रक्षा करते हैं। समाज इन सबको वही अवसर, वही सामर्थ्य, वही सम्मान देता है। इनकी यह मुक्ति, यह समाज की ही मुक्ति है। ये लोग जिस समाज मे अपने को मुक्तभाव से रखते हैं, क्षुद्र पराधीनता से उस समाज के लिए कोई भय नही है, विपत्ति नही है। ब्राह्मण अंश के भीतर वह समाज सदैव अपने मन की, अपनी आत्मा की स्वाधीनता की उपलब्धि कर सकता है। हमारे देश के वर्तमान ब्राह्मणगण यदि दृढभाव से, उन्नत-भाव से, अलुब्धभाव से, समाज के इस परम धन की रक्षा करते, तो ब्राह्मण के असम्मान को समाज कभी भी नही होने देता और ऐसी बात न्यायाधीश के मुँह से कभी भी बाहर नही निकल पाती कि भद्र ब्राह्मण को जूता मारना तुच्छ मामला है। विदेशी होने पर भी सम्मानित न्यायाधीश ब्राह्मण के सम्मान को स्वय ही समझ लेते।

परन्तु जो ब्राह्मण साहब के दफ्तर मे सिर झुकाकर नौकरी करता है, जो ब्राह्मण अपने अवकाश को बेचता है, अपने महान अधिकार को विसर्जित करता है, जो ब्राह्मण विद्यालय मे विद्या-वणिक (विद्या को बेचने वाला) है, न्यायालय मे न्याय का व्यवसायी है, जिस ब्राह्मण ने पैसे के बदले अपने ब्राह्मण्य को धिक्कृत किया है, वह अपने आदर्श की रक्षा किस तरह करेगा? समाज की रक्षा किस तरह करेगा? श्रद्धा के साथ उसके समीप धर्म का विधान लेने के लिए जायेंगे क्या कह कर? वह तो सर्व साधारण के साथ समान भाव से मिलकर धर्माक्त कलेवर में खींचतान-ठेलठाल के काम मे भिड गया है। भक्ति के द्वारा वह ब्राह्मण समाज को ऊँचा तो नहीं उठाता, नीचे ही ले जाता है।

जाने हैं। बहुतो ने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय और वैश्य की भाँति आचरण किया है, पुराण मे ऐसे उदाहरण दिखाई पडते हैं। परन्तु फिर भी यदि सम्प्रदाय के भीतर आदर्श सजीव रहे, धर्म-पालन की चेष्टा रहे; कोई आगे निकले, कोई पीछे रह जाय, परन्तु उसी पथ के पथिक यदि बने रहे—यदि इस आदर्श का प्रत्यक्ष दृष्टान्त बहुतो के भीतर देखने को मिले—तो उस चेष्टा के द्वारा, उस साधना के द्वारा, उन सफलता प्राप्त व्यक्तियो के द्वारा ही समस्त सम्प्रदाय सार्थक बना रहता है।

हमारे आधुनिक ब्राह्मण समाज मे वही आदर्श ही नही है। इसीलिए ब्राह्मणो के लडके अँग्रेजी सीखते ही अँग्रेजी कायदा ग्रहण कर लेते हैं, पिता उससे असन्तुष्ट नही होते। एम० ए० पास मुखोपाध्याय, विज्ञानवेत्ता चट्टोपाध्याय न जो विद्या प्राप्त की है, उसे छात्र को घर मे बुलाकर, आसन पर बैठा कर वितरण क्यो नहीं कर पाते? समाज को शिक्षा ऋण से ऋणी बनाने के गौरव से वे लोग स्वय को और ब्राह्मण समाज को वचित क्यो करते हैं?

प्राचीनकाल मे जब ब्राह्मण ही एकमात्र द्विज नहीं थे, क्षत्रिय वैश्य भी द्विज सम्प्रदाय मे थे, जिस समय ब्रह्मचर्य का अवलम्ब लेकर उपयुक्त शिक्षा-लाभ द्वारा क्षत्रिय-वैश्य का उपनयन होता था, उस समय इस देश मे ब्राह्मण का आदर्श उज्ज्वल था। कारण, चारो ओर का समाज जब अवनत हो, तब कोई विशेष समाज स्वय को उन्नत नही रख पाता, क्रमश: नीचे का आकर्षण उसे निम्न स्तर पर ले आता है।

भारतवर्ष में जब ब्राह्मण ही एक मात्र द्विज शेष रह गये जब उन का आदर्श स्मरण कराने के लिए, उनके समीप ब्राह्मणत्व का दावा करने के लिए चारो ओर अन्य कोई नही रहा, तब उनके द्विजत्व का विशुद्ध कठिन आदर्श द्रुत वेग से भ्रष्ट होने लगा। तब वे ज्ञान से, विश्वास से, रुचि से क्रमश: निकृष्ट अधिकारी के दल में आ उत्तीर्ण हुए। चारों ओर जहाँ फूँस की घास उग रही हो, वहाँ अपनी विशिष्टता की रक्षा करने के लिए एक झोपडा बना लेना ही यथेष्ट होता है;

कुमायूँ के कोने में तिब्बत के सीमान्त मे ब्रिटिश राज्य मे 'शाका' नामक एक पहाड़ी जाति रहती थी। तिब्बतियों के भय से और उपद्रव से वे लोग कांपते रहते थे। ब्रिटिश राज्य तिब्बतियो के पीड़न से उन लोगों की रक्षा नहीं कर पाता, कह कर लैण्डर साहब ने बारम्बार आक्षेप प्रकट किया था। इन शोकाओं मे से ही साहब की कुली मजूर इक्ट्ठे करके लेते थे। बडी मुश्किल से तीस कुली जुट सके।

इसके बाद से यात्राकाल मे साहब की एक प्रधान चिंता और चेष्टा यह रही कि वे कुली भाग न जांय। उनके भाग जाने के यथेष्ठ कारण थे। लैण्डर ने अपने भ्रमण-वृतान्त के पच्चीसवें परिच्छेद मे लिखा है, 'यह वाहक-दल (कुली) जब निःशब्द गम्भीर भाव से पीठ पर बोझ लादे हुए करुणाजनक श्वास-कष्ट के साथ हाँफते-हाँफते ऊँचाई से ऊँचाई पर आरोहण करता था, तब मन मे यही भय रहता था कि इनमे से कितने लोग किस समय लौट कर जा सकते हैं?'

हमे पूछना यही है कि यह शङ्का जब तुम्हारे मन मे है, तब इन अनिच्छुक अभागों को मृत्यु के मुँह मे ताडना देते हुए ले जाने को क्या नाम दिया जा सकता है? तुम पाओगे गौरव और उसके साथ ही अर्थ-लाभ सम्भावना भी यथेष्ट है, तुम उसकी प्रत्याशा मे प्राणपण लगा सकते हो, परन्तु इन लोगो के सामने कौन सा प्रलोभन है?

विज्ञान के उन्नति-कला मे जीवच्छेद (Vivisection) को लेकर यूरोप मे अनेक तर्क वितर्क होते रहते हैं। सजीव जन्तुओं को लेकर परीक्षा करने के समय यन्त्रणा नाशक औषध का प्रयोग करने का औचित्य भी आलोचित होता है। परन्तु बहादुरी दिखा कर वाह-वाही प्राप्त करने के उद्देश्य से दीर्घकाल तक अनिच्छुक मनुष्यो के ऊपर जो असह्य पीडन चलता है, भ्रमण-वृतान्त के ग्रंथ मे उसका विवरण प्रकाशित होता है, समालोचक लोग ताली बजाते हैं सस्करण के बाद सस्करण समाप्त हो जाते हैं हजार हजार पाठक पाठिकाएँ और इस सब वर्णन को विलाप के साथ पढते हैं और आनन्द के साथ आलोचना करते हैं।

भी कहते हैं कि वे क्षत्रिय है, वणिक् लोग कहते हैं कि वे वैश्य हैं—इस बात पर अविश्वास करने का कोई कारण नही दीखता। आकार-प्रकार बुद्धि और क्षमता, अर्थात् आर्यत्व के लक्षण से वर्तमान ब्राह्मणो के साथ इनका प्रभेद नही है। बङ्गाल देश की किसी भी सभा मे यज्ञोपवीत देखे बिना ब्राह्मण के साथ कायस्थ, सुनार-वणिक आदि का अन्तर करना असम्भव है। विशुद्ध आर्य-रक्त के साथ अनार्य-रक्त का मिश्रण हुआ है, वह हमारे वर्ण से, आकृति से, आचार से और मानसिक दुर्बलता से स्पष्ट समझ मे आता है, परन्तु वह मिश्रण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी सम्प्रदायों के भीतर ही हुआ है।

जो भी हो, शास्त्रविहित क्रिया-कर्म की रक्षा के लिए, विशेष आवश्यकतावश ही समाज विशेष प्रयत्न से ब्राह्मण को स्वतन्त्र भाव मे निर्दिष्ट किए रखने को बाध्य हुआ था। क्षत्रिय वैश्यों को उस तरह विशेष भाव से उनके पूर्वतन आचार-काठिन्य के भीतर आवद्ध रखने की कोई आवश्यकता बगाल के समाज मे नही थी। जिसकी खुशी हो युद्ध करे, वाणिज्य करे, उससे समाज का कुछ विशेष आता जाता नही था और जो लोग युद्ध, वाणिज्य, कृषि, शिल्प मे नियुक्त रहे, उन्हें विशेष चिह्न द्वारा पृथक् करने की तनिक भी आवश्यकता नही थी। व्यवसाय लोक मे अपनी ही गरज से किया जाता है, किसी विशेष व्यवस्था की अपेक्षा नही रखता—धर्म के बारे मे वह विधि नही है, वह प्राचीन नियम मे बँधा है, उसका आयोजन, रीति-पद्धति हमारी स्वेच्छाविहित नही है।

हमारा सम्पूर्ण समाज मुख्य रूप से द्विज समाज है; यह यदि न हो, समाज यदि शूद्र-समाज हो, तो कुछ थोडे से मात्र ब्राह्मणो को लेकर यह समाज यूरोपीय आदर्श से भी खर्व होगा, भारतीय आदर्श से भी खर्व होगा।

सभी उन्नत समाज समाजस्थ लोगो के निकट प्राणों के हकदार बने रहते हैं; स्वय को निकृष्ट रूप मे स्वीकार करके आराम से जडत्व

सुख भोग में जो समाज अपने अधिकांश लोगों को प्रश्रय देता रहता है, वह समाज मर जाता है और यदि नहीं भी मरता तो उसका मर जाना ही अच्छा है।

यूरोप धर्म की उत्तेजना से, प्रवृत्ति की उत्तेजना से सदैव ही प्राण देने को प्रस्तुत रहता है; हम लोग यदि धर्म के लिए प्राण देने को प्रस्तुत न हों तो उस प्राण के अपमानित होते रहने पर भी अभिमान को प्रकट करना हम लोगो को शोभा नहीं देगा।

यूरोप की सेना युद्धानुराग की उत्तेजना से और वेतन के लोभ से और गौरव के आश्वासन से प्राण देती है, परन्तु क्षत्रिय उत्तेजना और वेतन का अभाव होने पर भी युद्ध मे प्राण देने को प्रस्तुत रहता है। कारण, युद्ध समाज का अत्यावश्यक कर्म है; एक सम्प्रदाय यदि अपना धर्म कहकर ही उस कठिन कर्तव्य को ग्रहण करे तो कर्म के साथ धर्म-रक्षा होती है। देश के सब लोगों द्वारा मिलकर युद्ध के लिए प्रस्तुत रहने से मिलिटरिज्म के प्राबल्य से देश का गुरुतर अनिष्ट होता है।

वाणिज्य समाज रक्षा के लिए अत्यावश्यक कर्म है। उस सामाजिक आवश्यकता के पालन को एक सम्प्रदाय यदि अपना साम्प्रदायिक धर्म, अपने कुल के गौरव के रूप मे ग्रहण करता है तो वणिक्वृत्ति सर्वत्र ही परिव्याप्त होकर समाज की अन्यान्य शक्तियों का ग्रास नहीं कर डालतीं। इसके अतिरिक्त कर्म के भीतर धर्म का आदर्श सदैव ही जाग्रत् बना रहता है। -

धर्म एवं ज्ञानार्जन, युद्ध एवं राजकार्य, वाणिज्य एवं शिल्प चर्चा, समाज के ये तीन अत्यावश्यक कर्म हैं। इनमे से किसी को भी नही त्यागा जा सकता। इनमे से प्रत्येक को ही धर्म-गौरव, कुल गौरव दान करके सम्प्रदाय विशेष के हाथो मे समर्पित कर देने से उन्हें सीमाबद्ध कर देना होगा, अथच विशेष उत्कर्ष-साधन का भी अवसर देना होगा।

कर्म की उत्तेजना ही बाद मे कर्ता बनकर हमारी आत्मा को अभिभूत कर देती है, भारतवर्ष की यही आशंका थी। इसीलिए भारत-

वर्ष में सामाजिक मनुष्य लडाई करते हैं, वाणिज्य करते हैं, परन्तु नित्य-मनुष्य केवल मात्र सिपाही नही है, केवल मात्र वणिक नही है। कर्म को कुल-व्रत बनाने, कर्म को सामाजिक धर्म बना देने से कर्म साधन भी होता है, अथच वह कर्म अपनी सीमा को लांघ कर, समाज के सामंजस्य को भंग करके, मनुष्य के समस्त मनुष्यत्व को आच्छन्न करके, आत्मा के राजसिंहासन पर अधिकार नहीं कर बैठता।

जो लोग द्विज हैं, उन्हें किसी समय कर्म का परित्याग करना पडता है। उस समय वे फिर ब्राह्मण नही रहते। क्षत्रिय नही रहते, वैश्य नही रहते, उस समय वे नित्यकालीन मनुष्य होते हैं; उस समय कर्म उनके लिए फिर धर्म नही रहता, सुतरां अनायास ही परिहार्य होता है। इस तरह द्विज समाज ने विद्या एवं अविद्या दोनों की रक्षा की थी; उन्होंने कहा था, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।' अविद्या के द्वारा मृत्यु से उत्तीर्ण होकर, विद्या के द्वारा अमृत लाभ करेंगे। यह चचल संसार ही मृत्यु-निकेतन है, यही अविद्या है, इसे उत्तीर्ण करने के लिए इसके भीतर होकर ही जाना पडेगा, परन्तु इस तरह से जाना होगा कि जैसे यही चरम न हो उठे। कर्म को ही एकान्त प्रधानता देकर संसार ही चरम हो उठता है; मृत्यु से उत्तीर्ण नहीं हुआ जाता, अमृत लाभ करने का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जाता है, उसका अवकाश ही नही रहता। इसीलिए कर्म को सीमाबद्ध किया गया है, कर्म को धर्म के साथ युक्त किया गया है, कर्म को प्रवृत्ति के हाथ में– उत्तेजना के हाथ में–कर्म जनित विपुल वेग के हाथ मे न छोड देकर एवं इसीलिए भारतवर्ष में कर्म भेद विशेष-विशेष जनश्रेणी मे निर्दिष्ट किया गया है।

धर्म और कर्म के सामंजस्य की रक्षा करना एवं मनुष्य के चित्त मे कर्म के नागपाश को शिथिल करके उसे एक ओर व्रत-परायण; दूसरी ओर मुक्ति या अधिकारी करने का अन्य कोई उपाय तो नहीं दीखता।

आपत्ति की बात यह है, समाज को बाँध बूँध कर स्वय को उसके भीतर अवरुद्ध करने से मनुष्य की स्वाधीन प्रकृति पीडित होती है। मनुष्य को छोटा (तुच्छ) करके समाज को बडा करने का कोई अर्थ नही है । मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करने के लिए ही समाज है ।

उत्तर मे कथन यह है, भारतवर्ष ने समाज को सयत सरल बनाया था, वह समाज के भीतर ही आबद्ध होने के लिए नही । स्वयं को शतधा विभक्त अन्य चेष्टा के भीतर विक्षिप्त न करके, उसने अपनी सहत शक्ति को भीतरी ओर अभिमुख करके एकाग्र करने के लिए ही इच्छापूर्वक वाह्य विपयो मे सकीर्णता का आश्रय लिया था । नदी के तट बन्धन की भाति समाज बन्धन उसे वेग प्रदान करेगा, बंदी नही बनायेगा, यही उसका उद्देश्य था । इमीलिए भारतवर्ष के सभी क्रिया कर्मों के भीतर, सुख शान्ति-सन्तोष के भीतर मुक्ति का आह्वान है, आत्मा को भूमानन्द मे ब्रह्म के भीतर विकसित करके उठाने के लिए ही उसने समाज के भीतर अपनी साकल बाँधी थी । यदि उस लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाँय, जडतावश उस परिणाम की उपेक्षा करें, तो बन्धन केवल बन्धन ही रह जायगा, तब अतिक्षुद्र सन्तोष शाति का कोई अर्थ ही नही रहेगा इसे भारतवर्ष ने स्वीकार किया है । भूमैव सुख नाल्पे सुखमस्ति । भूमा ही सुख है, अल्प मे सुख नहीं है । भारत की ब्रह्मवादिनी ने कहा है, येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्याम् । जिसके द्वारा अमर न होऊँ उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? केवल मात्र पारिवारिक शृखला एव सामाजिक सुव्यवस्था के द्वारा मैं अमर नहीं होऊँगा, उससे मेरी आत्मा का विकास नही होगा। समाज यदि मुझे सम्पूर्ण सार्थकता न दे, तो समाज मेरा कौन है ? समाज को रखने के लिए जो मुझे वचित होना पडेगा, यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती । यूरोप भी कहता है, Individual को जो समाज पगु और प्रतिहत करता है, उस समाज के विरुद्ध विद्रोह न करना,

हीनता स्वीकार करनी होती है। भारतवर्ष ने भी अत्यन्त असंकोच से निर्भय होकर कहा है, आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्। समाज को मुख्य करने से उपाय को उद्देश्य करना होता है। भारतवर्ष उसे नही करना चाहता, इसीलिए उसका वन्धन जिस तरह दृढ है, उसका त्याग भी उसी तरह सम्पूर्ण है। सासारिक परिपूर्णता के बीच भारतवर्ष स्वय को वेष्टित बद्ध नहीं करता, उसके विपरीत ही करता है। जब सब सचित होगया है, भाण्डार पूर्ण हो गया है, पुत्र ने वय प्राप्त होकर विवाह कर लिया है, जब उस पूर्ण प्रतिष्ठित ससार के भीतर आराम करने, भोग करने का अवसर उपस्थित हुआ है, ठीक उसी समय ही समार का परित्याग करने की व्यवस्था है—जब तक खटना था तब तक तुम थे, जब खटना वन्द हो गया, तब आराम मे फल भोग के द्वारा जड़त्व प्राप्त करने के लिए बैठना निषिद्ध है। ससार के काम होते ही ससार से मुक्ति हो गई, उसके बाद आत्मा की अबाध अनन्तगति है। वह निश्चेष्टता नहीं है। ससार के हिसाब मे वह जड़त्व की भाँति दृश्यमान है, परन्तु पहिये के अत्यन्त घूमने से जिस तरह उसे देखा नही जा सकता उसी तरह आत्मा का अत्यन्त वेग निश्चलता के रूप मे प्रतीयमान होता है। आत्मा के उस वेग का चारो ओर अनेक रूपों मे अपव्यय न करके उस शक्ति को उद्बोधित करके उठाना ही हमारे समाज का काम था। हमारे समाज मे प्रवृत्ति को खर्व करके सदैव ही निस्वार्थ कल्याण साधन की जो व्यवस्था है, उसे ब्रह्म-लाभ का सोपान कह-कर ही हम लोग उसे लेकर गौरव करते हैं। वासना को छोटा करने से आत्मा को ही बड़ा करना होता है, इसीलिए हमलोग वासना को खर्व करके सन्तोष अनुभव करने के लिए नहीं हैं। यूरोप मरने को राजी है। फिर भी वासना को छोटा नही करना चाहता; हमलोग भी मरने को राजी हैं। फिर भी आत्मा को उसकी चरम गति, परम सम्पत्ति से वचित करके छोटा नही करना चाहते। दुर्गति के दिनो मे यह बात हमे विस्मृत हो गई है, वही समाज हमारा अब भी

है, परन्तु उसके भीतर से ब्रह्माभिमुखी, मोक्षाभिमुखी, वेगवती स्रोतोधारा येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' यह गीत गाती हुई नहीं दौड़ रही है—

माला थी, उसके फूल चले गए—
रह गई डोर।

इसीलिए हमारा इतने दिनो का समाज हम लोगो को बल नहीं दे रहा है, गौरव नही दे रहा है, आध्यात्मिकता की ओर हम लोगो को अग्रसर नही कर रहा है, हम लोगो को चारो ओर से प्रतिहत करके रख छोडा है। इस समाज के महत् उद्देश्य को जिस समय हमलोग सचेतनभाव से समझेंगे, इसे पूर्णरूपेण सफल करने के लिए जिस समय सचेष्टभाव से उद्यत होगे, उस समय क्षणभर मे ही वृहत् हो जायगे। मुक्त हो जायगे, अमर हो जायगे, संसार के बीच हमारी प्रतिष्ठा होगी, प्राचीन भारत के तपोवन मे ऋषियो ने जो यज्ञ किये थे, वे सफल होगे एव पितामहगण हमारे भीतर कृतार्थ होकर हमलोगो को आशीर्वाद देंगे।

धर्मबोध का दृष्टान्त

अन्यत्र कह चुका हूँ, किसी अँग्रेज अध्यापक ने इस देश मे जूरी के विचार के सम्बन्ध मे आलोचना करते समय कहा था कि जिस देश के अर्धसभ्य लोग प्राण के माहात्म्य (Sanctity of life) को नहीं समझते, उनके हाथो मे जूरी के विचार का अधिकार देना अनुचित है।

प्राण के माहात्म्य को अँग्रेज हमारी अपेक्षा अधिक समझते हैं, इस बात को शायद स्वीकार कर ही लिया गया है। अतएव वही अँग्रेज

जब प्राण हनन करता है, तब उसके अपराध का गुरुत्व हमारी अपेक्षा अधिक है। अथच देखने में आता है, देसी आदमी की हत्या करके कोई अंग्रेज खूनी अंग्रेज जज और अंग्रेज जूरी के फैसले से फाँसी पर नहीं चढ़ता। प्राण के माहात्म्य के बारे में उनकी बोधशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, अंग्रेज अपराधी शायद उसका प्रमाण पा लेता है, परन्तु प्रमाण देसी लोगों के समीप कुछ असम्पूर्ण ही बना रहता है।

इस तरह का न्याय हम लोगों को दो ओर से चोट पहुँचाता है। प्राण जो जाने को है, वह तो जाता ही है, उधर मान भी नष्ट होता है। इससे हमारी जाति के प्रति जो अवज्ञा प्रकट होती है, वह हम सभी के शरीर पर चोट करती है।

इङ्गलैण्ड में 'ग्लोब' नामक एक अखबार है, वह वहाँ के भले आदमियों का ही अखबार है। उसमें लिखा है; टॉमी ऐट्किन्स (अर्थात् पल्टन के गोरा) देसी लोगों को मार डालने के लिए नहीं मारते, परन्तु मार खाकर ही देसी लोग मर जाते हैं—इसलिए बेचारे टामी को थोड़ा दण्ड मिलने से ही देसी खबरों के कागज चिल्लाने लगते हैं।

टॉमी ऐट्किन्स के प्रति खूब दर्द दीखता है, परन्तु सेंकटिटी आफ लाइफ कहाँ है। जिस पाशविक आघात से हमारे भेजे फट जाते हैं, इस भद्र अखबार की कुछ पंक्तियों के भीतर क्या उसी आघात का वेग नहीं है? स्वजातिकृत खून (हत्या) को कोमल स्नेह के साथ देखकर मारे गए व्यक्ति के आत्मीय-सम्प्रदाय के विलाप को जो लोग विरक्ति के साथ धिक्कार देते हैं, वे लोग भी क्या खून (हत्या) का पोषण नहीं करते हैं?

परन्तु कुछ समय से हम लोग देख रहे हैं, यूरोपीय सभ्यता की धर्मनीति का आदर्श अभ्यास के ऊपर ही प्रतिष्ठित है, धर्मबोध शक्ति इस सभ्यता के अन्तःकरण के भीतर उद्भासित नहीं हुई है। इसलिए अभ्यास की सीमा-रेखा के बाहर यह आदर्श का पथ ढूँढे नहीं मिलता, बहुत बार विपथ पर मारा जाता है।

यूरोपीय समाज मे घर-घर मे मार-काट खूना खूनी नही हो पाती, इस तरह का व्यवहार वहाँ के साधारण स्वार्थ का विरोधी है। विष-प्रयोग अथवा अस्त्राघात के द्वारा खून करना यूरोप के लिए कई शताब्दियों से क्रमश अनभ्यस्त हो आया है।

परन्तु खून बिना अस्त्राघात के, बिना रक्तपात के भी हो सकता है। धर्मबोध यदि अकृत्रिम आभ्यन्तरिक हो तो उस तरह का खून भी निन्दनीय एव असम्भव हो जाता है।

एक विशेष दृष्टान्त का सहारा लेकर इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय।

हेनरी सैवेज लैण्डर एक विख्यात भ्रमणकारी था। तिब्बत के तीर्थ स्थान ल्हासा जाने के लिए उसमे दुर्निवार उत्सुकता उत्पन्न हुई। सभी जानते हैं, तिब्बती लोग यूरोपीय यात्री एव मिशनरी आदि पर सन्देह करते रहते हैं। उनके दुर्गम पथ घाट विदेशियों के लिए परिचित नहीं हैं; यही उनकी आत्म रक्षा का प्रधान अस्त्र है, इस अस्त्र को यदि वे लोग ज्योग्राफिकल सोसाइटी के हाथो मे समर्पित करके निश्चिन्त होकर बैठ जाते अनिच्छुक होकर, तो उन्हें दोष नही दिया जा सकता था।

परन्तु और लोग उसका निषेध मानेंगे, वह किसी का निषेध नहीं मानेगा, यूरोप का धर्म यही है। कोई प्रयोजन रहे या न रहे, केवलमात्र विपत्ति को लांघने की बहादुरी करने पर यूरोप मे इतनी वाहवाही मिलती है कि बहुतो के लिए वह एक प्रलोभन है। यूरोप के बहादुर लोग देश-विदेश मे विपत्ति को ढूँढते फिरते हैं। किसी भी उपाय से हो, ल्हासा मे जो यूरोपीय पदार्पण करेगा, समाज मे उसकी ख्याति-प्रतिपत्ति की सीमा नही रहेगी।

अतएव तुषारगिरि और तिब्बतीय निषेध को धोखा देकर ल्हासा मे जाना होगा। लैण्डर साहब ने कुमायूँ मे अल्मोडा से यात्रा आरम्भ की। साथ को एक हिंदू नौकर आ जुटा, उसका नाम चन्दनसिंह था।

उस जगह सातमंजिले प्रासाद का निर्माण करने का व्यय और चेष्टा स्वीकार करने मे सहज ही अप्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

प्राचीनकाल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज थे, अर्थात् समस्त आर्य समाज ही द्विज था; शूद्र के रूप में जो लोग जाने जाते थे, वे संथाल, भील, कोल, मेहतरों के दल के थे। आर्य–समाज के साथ उनकी शिक्षा, रीति-नीति और धर्म का सम्पूर्णरूप से ऐक्य स्थापन एक दम ही असम्भव था। परन्तु उससे कोई हानि नही थी, कारण सम्पूर्ण आर्य-समाज ही द्विज था अर्थात् समस्त आर्य-समाज की शिक्षा एक ही प्रकार की थी। अन्तर केवल कर्म मे था। शिक्षा के एक रहते हुए भी परस्पर के आदर्श की विशुद्धता की रक्षा मे पूर्णरूपेण अनुकूलता कर लेते थे। क्षत्रिय एव वैश्य ब्राह्मण को ब्राह्मण होने में सहायता देते थे और ब्राह्मण भी क्षत्रिय-वैश्य को क्षत्रिय वैश्य होने मे सहायता करते थे। सम्पूर्ण समाज की शिक्षा का आदर्श समान रूप से उन्नत न होने पर, ऐसा कभी नही हो सकता था।

वर्तमान समाज को भी यदि एक मस्तक की आवश्यकता हो, उस मस्तक को यदि उन्नत करना हो और उस मस्तक को यदि ब्राह्मण कह कर गिना जाय, तो उसके स्कन्ध को, ग्रीवा को एकदम मिट्टी के समान कर रखने से नहीं चलेगा। समाज के उन्नत हुए बिना उसका मस्तक उन्नत नही होता और समाज को सब प्रयत्नों से उन्नत बनाये रखना ही उस मस्तक का कार्य है।

हमारे वर्तमान समाज का भद्र सम्प्रदाय, अर्थात् वैद्य* कायस्थ और वणिक्× संप्रदाय, समाज यदि इन लोगों की गणना द्विज के रूप में न करे, तो फिर ब्राह्मण के उत्थान की आशा नही है। एक पाँव से खड़े होकर समाज बकवृत्ति नही कर सकता।

वैद्यो ने तो यज्ञोपवीत ग्रहण कर लिया है। कभी-कभी कायस्थ

---

* बंगाल मे पाई जाने वाली ब्राह्मणों से नीचे की एक जाति।

× बंगाल मे पाई जाने वाली वैश्यो से नीचे की एक जाति।

दुर्गम तुपार पथ पर निरीह शोका-वाहकदल ने दिन रात, जिस असह्य कष्ट को भोगा - उसका परिणाम क्या रहा ? लैण्डर साहब चाहे ल्हासा पहुंच गए, उससे ससार का ऐसा क्या उपकार होना सम्भव था, जिससे इन सब भीत पीडित पलायनेच्छु मनुष्यों को दिन-रात इतना कष्ट देकर मृत्यु के पथ पर ताडना देना लेशमात्र उचित के रूप मे गिना जा सके ? परन्तु कहां, इसके लिये तो लेखक को सकोच नही है, पाठकों की अनुकम्पा नही है ?

तिब्बती लोग किस निष्ठुर भाव से पीडित और हत्या कर सकते हैं। शोका लोग उसी कारण तिब्बतियो से किस तरह डरते हैं और उन लोगो की तिब्बतियो के हाथ से रक्षा करने मे ब्रिटिश राज्य किस तरह से अक्षम है, उसे लैंडर जानते थे, वे यह भी जानते थे कि उनके भीतर जो उत्साह उत्तेजना और प्रलोभन काम कर रहे हैं, शोकाओं के भीतर उसका लेशमात्र नही है। यह होते हुए भी लैंडर ने अपने ग्रथ के १६५ वें पृष्ठ पर जिस भाषा मे, जिस भाव से अपने कुलियो के भय-दुःख का वर्णन किया है, उसका अनुवाद किये देता हूँ—

'उनमे से प्रत्येक हाथो से मुँह ढंक कर व्याकुल होकर रोता था। काची के दोनो गालों पर बहता हुआ आँखो से पानी गिर रहा था, दोला सिसक कर रो रहा था , एव डाकू तथा एक और तिब्बती जो मेरे काम मे साथ थे—जिन्होंने भय से छद्मवेष धारण कर रक्खा था— वे अपने बोझ के पीछे छिप कर बैठे हुये थे। हमारी अवस्था यद्यपि सकटापन्न थी, फिर भी अपने आदमियो की इस आतुर दशा को देखकर मै हँसे बिना नहीं रह सका।'

इसके बाद इन अभागो ने भागने की चेष्टा की तो लैंडर ने उन्हें यह कह कर शान्त किया कि जो कोई भागने या विद्रोह की चेष्टा करेगा, उसे गोली से मार दूँगा।'

किस तरह तुच्छ कारण से ही लैंडर साहब को गोली मारने की उत्तेजना हुई, अन्यत्र उसका परिचय मिला है। तिब्बती अधिकारियो

द्वारा लैण्डर को जब पहली बार निषेध प्राप्त हुआ, उस समय उन्होंने समझा, जैसे लौटे जा रहे हैं। एक उपत्यका मे उतर कर दूरबीन से देखा, पहाड की चोटी के ऊपर से प्राय: तीस मस्तक पत्थरो की ओट से झाक रहे हैं। साहब लिखते है, मुझे बहुत गुस्सा आया। यदि इच्छा हो तो ये लोग प्रकट रूप मे हमारा अनुसरण क्यो नही करते ? दूर से पहरा लगाने की क्या आवश्यकता है। अतएव मैं अपनी आठ सौ गजी राइफल लेकर जमीन स लगकर लेट गया और जो मस्तक अन्यो की अपेक्षा स्पष्ट दिखाई पड रहा था, उसके प्रति लक्ष्य स्थिर कर लिया।

यह 'अतएव' इसकी शोभा है। लुकाछिपी को लैण्डर साहब कैसी घृणा करते थे। वे और उनके साथ के एक और मिशनरी-साहब ने स्वय को हिन्दू तीर्थयात्री कह कर परिचय दिया था। प्रकट मे भारतवर्ष को लौटने का दिखावा करते हुए गुप्तरूप से ल्हासा मे पहुंचने का उद्योग कर रहे थे, परन्तु दूसरो की लुकाछिपी इन्हे इतनी असह्य थी कि जमीन पर लेटकर स्वय को छिपाते हुये उसीक्षण आठसौ गजी राइफल समालकर कहा, 'I only wish to teach these cowards a lesson मैं इन का पुरुषो को सीख देने की इच्छा करता हूँ।' दूर से छिपकर राइफल चलाने मे साहब जिस पौरुष का परिचय दे रहे थे, उसका विचार करने वाला कोई नही था। अपने ओरियन्टलो की अनेक दुर्बलताओ की कहानिया हमने सुनी हैं, परन्तु चलती होकर सुई के बारे मे विचार करने की प्रवृत्ति पाश्चात्य लोगो की तरह हमारी नही रही। असल बात यह है, शरीर मे'बल रहने से न्यायासन पर एकाधिकार कर लिया जाता है, उस समय दूसरो से घृणा करने का अभ्यास ही बद्धमूल हो जाता है स्वय पर विचार करने का अवसर नहीं मिल पाता।

ऐशिया मे, अफ्रीका में भ्रमणकारी लोग अनिच्छुक भृत्यवाहको के प्रति जिस तरह का अत्याचार करते रहते हैं, देश-आविष्कार की उत्तेजना मे छल, बल, कौशल से उन लोगों को जिस तरह से विपत्ति और

मृत्यु के मुँह मे ठेलकर ले जाते हैं, वह किसी से छिपा नहीं है। अथच सेक्टिटी आफ लाइफ के सम्बन्ध मे इन सब पाश्चात्य सभ्य जातियों की बोध शक्ति अत्यन्त सुतीव्र होने पर भी कहीं पर कोई आपत्ति सुनाई नही पड़ती। उसका कारण धर्म बोध पाश्चात्य सभ्यता का आभ्यन्तरिक नही है, स्वार्थ-रक्षा के प्राकृतिक नियम से वह बाहर से अभिव्यक्त हो उठा है। इसीलिए यूरोपीय सीमा-रेखा के बाहर वह विकृत बन जाता है। यही क्यों, उस सीमा रेखा के भीतर भी जहाँ स्वार्थ बोध प्रबल है, वहाँ दया-धर्म की रक्षा करने के प्रयत्न को यूरोप ने दुर्बलता कह कर घृणा करना आरम्भ कर दिया है। युद्ध के समय विरोधी पक्ष के सर्वस्व को जला डालना। उनके अनाथ शिशु और स्त्रियों को बन्दी बनाने के विरोध में बात कही जाती है'सेन्टिमेन्टलिटी'। यूरोप मे साधारणतः असत्य परता दूषनीय है, परन्तु पालिटिक्स मे एक पक्ष दूसरे पक्ष को असत्य का अपवाद सदैव ही देता है। ग्लेड-स्टोन भी इस अपवाद से निष्कृति नहीं पा सका। इसी कारण चीन के युद्ध मे यूरोपीय सेनाओ के उपद्रव ने बर्बरता की सीमा को भी लाँघ दिया था, एव कागो-प्रदेश मे स्वार्थोन्मत्त बेल्जियम का व्यवहार पैशाचिकता में जा पहुँचा था।

द्वैधव्य (bigany) के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। हिरासत मे रहते समय एक बैरिस्टर ने उसका पक्ष लेना स्वीकार किया। परन्तु कोई फैसला हुए बिना ही निर्दोषी कहकर इस स्त्री को छुट्टी मिल गई। बैरिस्टर ने फीस के रूप मे अपने प्राप्य रुपयों के बदले इस स्त्री को गैत्री-कैम्प मे चौदह महीने तक काम करने के लिए भेज दिया। वहाँ उसे नौ महीने तक ताले मे बन्द रखकर काम कराया गया। जबर्दस्ती एक अन्य व्यक्ति के साथ उसका विवाह करके कहा गया कि 'तुम्हारे वैध पति के साथ तुम्हारा किसी भी काल मे मिलन नहीं होगा,' भाग जाने की आशंका से उसके पीछे कुत्ते छोड दिए गए, उसके मालिक गैविग्यो ने उसे अपने हाथों से चाबुक मारे एवं उससे शपथ कराली कि छुटकारा पाने पर उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि वह प्रतिमास पाच डालर वेतन प्राप्त करती थी।

लीन्यूज कहता है, रूस में यहूदियो की हत्या, कांगो मे बेल्जियम के अत्याचार आदि को लेकर पडोसियो के प्रति दोपारोपण करना दुरूह हो गया है।

After all, no great power is entirely innocent of the charge of treating with barbarous harshness the alien races which are subject to its rule.

हमारे देश मे धर्म का जो आदर्श है, वह अन्तर (हृदय) की सामग्री है, वह बाहर सीमा-रेखा के भीतर प्रतिष्ठित करने की नहीं है। हम लोग यदि सैंकटिटी ऑफ लाइफ एक बार स्वीकार करलें, तो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग कहीं भी उसकी सीमा को स्थापित नहीं करेंगे। भारतवर्ष किसी समय मांसाहारी था, मांस आज उसके लिए निषिद्ध है। मांसाहारी जाति ने स्वयं को वंचित करके मांसाहार का एकदम परित्याग

कर दिया, ससार मे शायद इसका दूसरा उदाहरण नही है। भारतवर्ष मे दीख पड़ता है, अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति भी जो कुछ कमाता है, उसे दूर के आत्मीयो (रिश्तेदारों) के बीच बाट देने में भी कुण्ठित नहीं होता। स्वार्थ का जो एक न्याय्य अधिकार है, इस बात को हम लोगों ने सब प्रकार की असुविधाओं को स्वीकार करके भी जितनी दूर तक सम्भव था। खर्व कर दिया है। हमारे देश में कहा जाता है, युद्ध में भी धर्म की रक्षा करनी होगी—निरस्त्र, पलातक, शरणागत शत्रु के प्रति हमारे क्षत्रियों का जैसा व्यवहार धर्म-विहित के रूप मे निर्दिष्ट हुआ है, यूरोप मे उसे उपहासास्पद के रूप मे गिना जायगा। उसका एकमात्र कारण है, धर्म को हम लोगों ने हृदय का धर्म करना चाहा था। स्वार्थ के प्राकृतिक नियम हमारे धर्म का गठन नही करते, धर्म के नियमो ने ही हमारे स्वार्थ को सयत करने की चेष्टा की है। इस कारण हम लोग चाहे बाहरी विषयों मे दुर्बल बने रहे। इस कारण बाहरी शत्रुओं के निकट चाहे हमारी पराजय हुई, फिर भी हम लोगो ने स्वार्थ और सुविधा के ऊपर धर्म के आदर्श को विजयी बनाने की चेष्टा मे जिस गौरव को प्राप्त किया है, वह कभी भी व्यर्थ नही होगा—एक दिन उसका भी दिन आएगा।

———

पाप की मार्जना

हमारी प्रार्थना हर समय में सत्य नही होती, बहुत बार मुँह की बात ही होती है—कारण, चारों ओर असत्य द्वारा परिवृत बने रहने से हमारी वाणी तक सत्य का तेज पहुँचता ही नही। परन्तु इतिहास के मध्य, जीवन के मध्य ऐसा कोई-कोई दिन आता है, जब समस्त मिथ्या एक क्षण मे दग्ध होकर, एक ऐसा आलोक जग उठता है, जिसके सामने सत्य को अस्वीकार करने का उपाय नही रहता। उस समय यह बात बारम्बार जाग्रत् होती है, विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। हे देव, हे पिता, विश्व के पाप की मार्जना करो।

हम लोग उनके समीप यह प्रार्थना नहीं कर पाते—हमारे पाप क्षमा करो; कारण वे क्षमा नही करते, सहन नही करते। उनके निकट यही प्रार्थना सच्ची प्रार्थना है—तुम क्षमा करो। जहाँ भी जो कुछ पाप है, अकल्याण है, बारम्बार रक्त स्रोत के द्वारा, अग्नि वर्षा के द्वारा वहाँ वे क्षमा करते हैं। जो प्रार्थना क्षमा चाहती है वह दुर्बल की है भीरु की प्रार्थना है; वह प्रार्थना उनके द्वार पर जाकर नहीं पहुँचेगी।

आज यह जो युद्ध की अग्नि जल रही है, इसके भीतर सम्पूर्ण मनुष्यों की प्रार्थना ही रो उठी है; विश्वानि दुरितानि परासुव—विश्व के पाप की मार्जना करो। आज जो रक्त स्रोत प्रवाहित हुआ है, वह जैसे व्यर्थ न हो, रक्त की बाढ मे जैसे पुंजीभूत पापों को बहाकर ले जाय : जब पृथ्वी के पाप स्तूपाकार हो उठते हैं, तभी तो उनकी मार्जना का दिन आता है। आज समस्त पृथ्वी को घेर कर जो

दहन-यज्ञ हो रहा है, उसके रुद्र आलोक मे यही प्रार्थना सत्य हो : विश्वानि दुरितानि परासुव । हम मे से प्रत्येक के जीवन के भीतर आज यही प्रार्थना सत्य हो उठे ।

हम लोग प्रतिदिन समाचार पत्रो मे टेलीग्राफ से जो एकाध खबर पाते हैं, उसके पीछे कैसे असह्य दुःख रहते हैं । क्या हम लोग उन पर विचार करके देखते हैं । जो मारकाट होती है, उसकी सम्पूर्ण वेदना किस जगह जाकर लगती है । सोचकर देखो, कितने माता पिता अपने एकमात्र धन को खो देते हैं, कितनी स्त्रियाँ पति को खो देती हैं, कितने भाई भाई को खो देते हैं । इसीलिए तो पाप का आघात इतना निष्ठुर है; कारण जिस जगह वेदना-बोध सबसे अधिक होता है, वहाँ प्रीति सबसे अधिक गहरी होती है, पाप का आघात भी उसी जगह जाकर चोट करता है । जिसका हृदय कठोर है वह तो, वेदना का अनुभव नहीं करता । कारण, वह यदि वेदना को पाता तो पाप इतना निदारुण हो ही नही सकता था । जिसका हृदय कोमल है, जिसका प्रेम गहरा है, उसी को समस्त वेदना वहन करनी पडती है । इसीलिए युद्धक्षेत्र मे वीरो का रक्तपात कठिन नही है, राजनीतिज्ञो की दुश्चिन्ता कठिन नही है । परन्तु घर के कोने में जो रमणी आँसू बरसा रही है, उसी का आघात सबसे अधिक कठिन है ।

इसीलिए किसी-किसी समय मन इस बात की जिज्ञासा करता है—जहा पर पाप है, वहाँ पर शान्ति क्यो नही होती । सम्पूर्ण विश्व में पाप के वेदना कम्पित क्यो हो उठती है । परन्तु, यह बात जानलो कि मनुष्य के बीच कोई विच्छेद नहीं है, सभी मनुष्य एक हैं । इसीलिए पिता का पाप पुत्र को वहन करना पडता है, भाई के पाप के लिए भाई को प्रायश्चित्त करना पडता है, प्रबल का उत्पीडन दुर्बल को सहन करना पडता है । मनुष्यो के समाज मे एक व्यक्ति के पाप का फल भोग सभी को बाँट लेना पडता है, कारण अतीत में, भविष्यत् मे, दूरी मे, दुरान्त

मे, हृदय हृदय मे मनुष्य एव दूसरे से गुँथा हुआ है।

मनुष्य के इस ऐक्य बोध के भीतर जो गौरव है, उसे भुलाने से नहीं चलेगा। इसीलिए हम सभी को दु ख भोग करने के लिए प्रस्तुत होना पडेगा। वैसा न होने पर प्रायश्चित्त नही होता—सभी मनुष्यो के पाप का प्रायश्चित्त सभी को करना होगा जो हृदय प्रीति से कोमल है, दु ख की अग्नि उसी को पहले जलायेगी। उसकी आंखो मे नीद नही रहेगी। वह आँखें गडाकर देखेगा, दुर्योग की रात्रि मे दूर-दिगन्त मे मशाल जल उठी है, वेदना की दामिनी को कम्पित करते (कौंधाते) हुए रुद्र आ रहे हैं—उस वेदना के आघात से उसके हृदय की सभी नाडियाँ छिन्न हो जायेंगी। जिसकी हृदय-तन्त्री पर आघात करने से सबसे अधिक चोट पहुचेगी, पृथ्वी की समस्त वेदना उसी को सबसे अधिक चोट पहुचायेगी।

इसीलिए कहता हूँ कि समस्त मनुष्यो के सुख-दु ख को एक करके जो एक परम वेदना, परम प्रेम है, वे यदि शून्य कथा की कथा मात्र होते, तो वेदना की यह गति कभी भी ऐसी वेगवान नही हो सकती थी। धनी-दरिद्र, ज्ञानी-अज्ञानी सबको लेकर उसी एक परम प्रेम के चिर-जाग्रत् होने के कारण एक जगह की वेदना सब जगह कांप उठती है। यही बात आज विशेष रूप से अनुभव करो।

इसीलिए यह बात आज कहने की बात नही है कि दूसरे के कर्म का फल मैं क्यों भोगूँगा। हाँ, मैं ही भोगूँगा, मैं स्वय अकेला भोगूँगा, यह बात कहने के लिए तय्यार रहो। अपने जीवन को पवित्र करो, तपस्या करो, दु ख को ग्रहण करो। तुम्हें तो अपने पाप के साथ भीषण युद्ध करना होगा, अपना ही रक्त बहाना होगा, दु ख मे दग्ध होकर शायद मरना होगा, कारण, अपने स्वय के जीवन को यदि परिपूर्ण रूप से उत्सर्ग नही करोगे तो पृथ्वी के जीवन की धारा किस तरह से निर्मल रह सकेगी, किस तरह से प्राणवान हो सकेगी। और तपस्वी,

तपस्या में प्रवृत्त होना पड़ेगा, सम्पूर्ण जीवन की आहुति देनी होगी। तभी 'यद्भद्रतत्'—जो भद्र है, वही—आयेगा! और तपस्वी, दुःसह दुर्भर दुःखभाव से तुम्हारा हृदय एकदम नत बना रहे, उनके चरणों में जा पहुँचे। नमस्तेऽस्तु। बोलो, पिता, तुम हो, इस बात को ऐसे ही आघात के भीतर से प्रचारित करो। तुम्हारा प्रेम निष्ठुर है, वह तुम्हारा निष्ठुर प्रेम जाग्रत होकर सब अपराधों का दलन करे। पिता नो बोधि—आज ही तो उस उद्बोधन का दिन है। आज पृथ्वी के प्रलयदाह के रुद्र आलोक में, पिता, तुम खड़े हुए हो। प्रलय-हाहाकार ऊपर स्तूपाकार पाप को दग्ध कर रहा है, उस दहन-दीप्ति से तुम प्रकाश पा रहे हो, तुम जग रहे हो। तुम आज सोने नहीं देते; तुम आघात कर रहे हो, प्रत्येक के जीवन में कठिन आघात। जहाँ पर प्रेम है वहाँ जगो, जहाँ पर कल्याण का बोध है, वहाँ जगो—सब लोग आज तुम्हारे बोध से उद्बोधित हो उठें। इस एक प्रचण्ड आघात के द्वारा तुम सब आघातों को निरस्त करो। सम्पूर्ण विश्व का पाप हृदय-हृदय में, घर-घर में, देश-देश में पुंजीभूत है—तुम आज उस पाप की मार्जना करो, रक्तस्रोत के द्वारा मार्जना करो, अग्नि-वर्षा के द्वारा मार्जना करो।

यही प्रार्थना, समस्त मानव-हृदयों की यही प्रार्थना, आज हम में से प्रत्येक के हृदय में जाग्रत हो—विश्वानि दुरितानि परासुव—विश्व के पाप की मार्जना करो। इस प्रार्थना को सत्य करना होगा, पवित्र बनना होगा, सम्पूर्ण हृदय की मार्जना करनी होगी। आज उसी तपस्या के आसन पर, पूजा के आसन पर उपविष्ट हो ओ। जो पिता समस्त मानव-सन्तान के दुःख को ग्रहण करते हैं, जिनकी वेदना का अन्त नहीं है, प्रेम का अन्त नहीं है, जिनके प्रेम की वेदना उद्वेलित हो उठी है, उनके सामने बैठकर उनकी उस प्रेम की वेदना को हम सब लोग मिलकर ग्रहण करें।

———

स्वदेशी समाज

हमारे देश मे युद्ध विग्रह, राज्य-रक्षा एव विचार कार्य (न्याय) राजा करते थे, परन्तु विद्यादान से लेकर जलदान तक सभी काम समाज ने इस सहजभाव से सम्पन्न किये थे कि इतनी नई-नई शताब्दियो मे इतने नये नये राजाओ का शासन हमारे देश के ऊपर होकर बाढ की तरह बह गया, फिर भी हमारे समाज को नष्ट करके, हम लोगो को एक दम श्रीहीन (अभागा) नही बनाया जा सका। राजा राजाओ मे लडाइयो का अन्त नही रहा परतु हमारे मर्मरित वेणुकुज मे, हमारे आम कटहल की वनच्छाया मे देवायतन (मन्दिर) उठते रहे, अतिथि-शालाऐं स्थापित होती रही, तालाबो की खुदाई चलती रही, गुरु महाराज शुभकरी रटाते रहे, सस्कृत पाठशालाओ मे शास्त्र-अध्यापना बन्द

तपस्या में प्रवृत्त होना पड़ेगा, सम्पूर्ण जीवन की आहुति देनी होगी। तभी 'यद्भद्रंतत्—जो भद्र है, वही—आयेगा! और तपस्वी, दु:सह दुर्भर दु:खभाव से तुम्हारा हृदय एकदम नत बना रहे, उनके चरणों में जा पहुँचे। नमस्तेऽस्तु। बोलो, पिता, तुम हो, इस बात को ऐसे ही आघात के भीतर से प्रचारित करो। तुम्हारा प्रेम निष्ठुर है, वह तुम्हारा निष्ठुर प्रेम जाग्रत होकर सब अपराधों का दलन करे। पिता नो बोधि—आज ही तो उस उद्बोधन का दिन है। आज पृथ्वी के प्रलयदाह के रुद्र आलोक में, पिता, तुम खड़े हुए हो। प्रलय-हाहाकार ऊपर स्तूपाकार पाप को दग्ध कर रहा है, उस दहन-दीप्ति से तुम प्रकाश पा रहे हो, तुम जग रहे हो। तुम आज सोने नहीं देते; तुम आघात कर रहे हो, प्रत्येक के जीवन में कठिन आघात। जहाँ पर प्रेम है वहाँ जगो, जहाँ पर कल्याण का बोध है, वहाँ जगो—सब लोग आज तुम्हारे बोध से उद्बोधित हो उठें। इस एक प्रचण्ड आघात के द्वारा तुम सब आघातों को निरस्त करो। सम्पूर्ण विश्व का पाप हृदय-हृदय में, घर-घर में, देश-देश में पुंजीभूत है—तुम आज उस पाप की मार्जना करो, रक्तस्रोत के द्वारा मार्जना करो, अग्नि-वर्षा के द्वारा मार्जना करो।

यही प्रार्थना, समस्त मानव-हृदयों की यही प्रार्थना, आज हम में से प्रत्येक के हृदय में जाग्रत हो—विश्वानि दुरितानि परासुव—विश्व के पाप की मार्जना करो। इस प्रार्थना को सत्य करना होगा, पवित्र बनना होगा, सम्पूर्ण हृदय की मार्जना करनी होगी। आज उसी तपस्या के आसन पर, पूजा के आसन पर उपविष्ट हो ओ। जो पिता समस्त मानव-सन्तान के दु:ख को ग्रहण करते हैं, जिनकी वेदना का अन्त नहीं है, प्रेम का अन्त नहीं है, जिनके प्रेम की वेदना उद्वेलित हो उठी है, उनके सामने बैठकर उनकी उस प्रेम की वेदना को हम सब लोग मिलकर ग्रहण करें।

———

स्वदेशी समाज

हमारे देश मे युद्ध विग्रह, राज्य-रक्षा एवं विचार कार्य (न्याय) राजा करते थे, परन्तु विद्यादान से लेकर जलदान तक सभी काम समाज ने इस सहजभाव से सम्पन्न किये थे कि इतनी नई-नई शताब्दियो मे इतने नये नये राजाओ का शासन हमारे देश के ऊपर होकर बाढ की तरह बह गया, फिर भी हमारे समाज को नष्ट करके, हम लोगो को एक दम श्रीहीन (अभागा) नही बनाया जा सका। राजा-राजाओ मे लडाइयो का अन्त नही रहा परन्तु हमारे मर्मरित वेणुकुंज मे, हमारे आम-कटहल की वनच्छाया मे देवायतन (मन्दिर) उठते रहे, अतिथि-शालाएँ स्थापित होती रही, तालाबों की खुदाई चलती रही, गुरु महाराज शुभकरी‡ रटाते रहे, सस्कृत पाठशालाओ मे शास्त्र-अध्यापना बन्द नही हुई, चण्डी मण्डप मे रामायण का पाठ होता रहा एव कीर्तन की ध्वनि से गाँव का आँगन मुखरित होता रहा। समाज ने बाहरी-सहायता की अपेक्षा नही रखी एव बाहर के उपद्रवो से शोभा नष्ट नही हुई।

आज हमारे देश मे पानी नही है* कहकर, जो हम लोग आक्षेप करते हैं, वह साधारण बात है। सबसे अधिक शोक का विषय बना है। उसका मूल कारण। आज समाज का मन समाज के भीतर नही है। हमारा

---

‡ गणित की पुस्तक।

* यह निबन्ध बगाल मे जल-कष्ट निवारण के बारे मे गवर्नमेन्ट का मन्तव्य प्रकाशित होने के बाद लिखा गया था।

समस्त मनोयोग समाज के बाहर की ओर चला गया है।

अंग्रेजी मे जिसे 'स्टेट' कहते हैं, हमारे देश में आधुनिक भाषा में उसे कहते हैं सरकार। यह सरकार प्राचीन भारतवर्ष मे राजशक्ति के आकार मे थी। परन्तु विलायत की स्टेटों के साथ हमारी राजशक्ति का अन्तर है। विलायत ने देश के सभी कल्याणकारी कार्यों का भार स्टेट के हाथो में सौंप दिया है, भारतवर्ष ने उसका आंशिक भाव मात्र किया था।

देश के जो लोग गुरु स्थानीय थे, जो लोग सम्पूर्ण देश को बिना वेतन लिए विद्या-शिक्षा, धर्म-शिक्षा देते आये थे, उनका पालन करना, पुरस्कृत करना राजा कर्तव्य न रहा हो, ऐसी बात नही है। परन्तु केवल आंशिक भाव से था। वस्तुत साधारणतः वह कर्तव्य प्रत्येक गृहस्थ का था। राजा यदि सहायता बन्द करदे, हठात् यदि देश मे अराजकता फैल जाय, तो भी समाज की विद्या-शिक्षा, धर्म शिक्षा एक दम व्याघात को प्राप्त नही होती थी। राजा प्रजा के लिए बडे तालाब न खुदवाते हो ऐसी बात नहीं है, फिर भी समाज के सभी सम्पन्न व्यक्ति जिस तरह धन देते थे, वे (राजा) भी उसी तरह देते थे। राजा के ध्यान न देने पर भी देश के जलपात्र रिक्त नहीं हो जाते थे।

इससे स्पष्ट समझा जा सकेगा कि भिन्न-भिन्न सभ्यताओं की प्राण-शक्ति भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित होती है। जनसाधारण के कल्याण का भार जिस स्थान पर भी पुंजीभूत होता है, उसी जगह देश का मर्मस्थल है। वहीं पर आघात करने से सम्पूर्ण देश साधातिक रूप से आहत होता है। विलायत मे राजशक्ति यदि विपर्यस्त हो जाती है तो सम्पूर्ण देश का विनाश उपस्थित हो जाता है। इसीलिए यूरोप मे पालिटिक्स इतना अधिक गुरुतर व्यापार है। हमारे देश मे समाज पगु

हो जाय, तभी यथार्थ रूप मे देश के सवट की अवस्था उपस्थित होती है। इसीलिए हमने अभी तक राष्ट्रीय-स्वाधीनता के लिए प्राणपण के प्रयत्न नहीं किए, परन्तु सामाजिक स्वाधीनता को सर्वतोभाव से बचाते आये हैं। भिखारी को भिक्षादान से लेकर जनसाधारण को धर्म शिक्षा दान, ये सब विषय विलायत मे स्टेट के ऊपर निर्भर हैं, हमारे देश मे ये जनसाधारण की धर्म व्यवस्था के ऊपर प्रतिष्ठित हैं—इसीलिए अंग्रेज स्टेट को बचाने पर बचता है, हम लोग धर्म-व्यवस्था को बचा लेने पर ही बच जाते हैं।

इंगलैण्ड मे स्वभावत' ही स्टेट को जाग्रत रखने, सचेष्ट रखने मे जनसाधारण सदैव नियुक्त रहते हैं। सम्प्रति हम लोगो ने अंग्रेजों की पाठशाला मे पढकर स्थिर किया है कि अवस्था का विचार किए विना गवर्नमेट को धक्का मारकर मनोयोगी कराना ही जन साधारण का सर्वप्रधान कर्तव्य है। यह नहीं समझ पाये कि दूसरे के शरीर मे नियमित रूप से पलस्तर लगाते रहने से अपनी व्याधि की चिकित्सा करना नहीं होता।

हम लोग तर्क करना अच्छा समझते हैं, अतएव तर्क यह तर्क इस जगह उठना असम्भव नहीं है कि जनसाधारण का कर्म भार जन साधारण मे ही सर्वाङ्ग मे सचारित होते रहना अच्छा है, न कि वह सरकार नामक एक जगह में निर्दिष्ट होना अच्छा है। मेरा कहना यही है कि यह तर्क विद्यालय की डिबेटिंग क्लब मे किया जा सकता है। परन्तु आपातत यह तर्क हमारे किसी काम मे नहीं लगेगा।

कारण, यह बात हमे समझ ही लेनी होगी कि विलायती राज्य की स्टेट सम्पूर्ण समाज की सम्मति के ऊपर अविच्छिन्न रूप से प्रतिष्ठित हैं—वे वहां के स्वाभाविक नियम से ही अभिव्यक्त हो उठी हैं। केवल मात्र तर्क के द्वारा हमलोग उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे, अत्यन्त अच्छी होने पर भी वह हमारे लिए अनधिगम्य है।

हमारे देश मे सरकार बहादुर समाज की कोई नहीं है, सरकार समाज से बाहर है। अत: जिस किसी विषय की उससे प्रत्याशा करेंगे, वह स्वाधीनता का मूल्य देकर प्राप्त करनी होगी। जिस काम को समाज सरकार के द्वारा करा लेगा। उस काम के बारे में समाज स्वय को अकर्मण्य बना लेगा। अथच, यह अकर्मण्यता हमारे देश में स्वभावसिद्ध नहीं थी। हम लोगो ने अनेक जातियो के, अनेक राजाओ के आधीनता पाश को ग्रहण किया है। परन्तु समाज सदैव ही अपने सब कामो का स्वय ही निर्वाह करता आया है, छोटे-बड़े किसी भी विषय मे बाहर के अन्य किसी को हस्तक्षेप नहीं करने दिया। इसीलिए राजश्री जब देश से निर्वासित हुई, समाज लक्ष्मी ने उस समय भी विदा ग्रहण नहीं की।

आज हम लोग समाज के सभी कर्त्तव्यो को अपने प्रयत्नो से ही एक-एक करके समाज से बहिर्मुक्त स्टेट के हाथ मे सौंप देने के लिए उद्यत हुए हैं। अबतक हिन्दू समाज के भीतर रह कर नये-नये सम्प्रदायो ने अपने भीतर विशेष-विशेष आचार-विचारो का प्रवर्तन किया है, हिन्दू समाज ने उन सबको तिरस्कृत नही किया। आज सभी अग्रेजो के कानून मे बँध गये हैं—परिवर्तन मात्र से ही आज स्वय को अहिन्दू के रूप मे घोषित करने को बाध्य हुये हैं। इससे समझा जा सकता है कि जहाँ पर हमारा मर्मस्थान है—जिस मर्मस्थान की हम लोग अपने हृदय के भीतर यत्नपूर्वक रक्षा करते हुये इतने दिनो तक बचे चले आये, वही हमारा अन्तरतम मर्मस्थान आज अनावृत, अवारित हो गया है। वहाँ आज विफलता आक्रमण कर रही है। यही विपत्ति है। पानी का कष्ट विपत्ति नहीं है।

पहले जो लोग बादशाह के दरबार मे राय-रायाँ बने थे, नवाब लोग जिनकी मन्त्रणा और सहायता के लिये अपेक्षा करते थे। वे लोग राजप्रासाद को यथेष्ट नही समझते थे—समाज का प्रासाद राज प्रासाद

की अपेक्षा उनके निकट उच्च था। वे लोग प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपने समाज की ओर देखते थे। राजराजेश्वर की राजधानी दिल्ली उन लोगों को जो सम्मान नहीं दे पाती थी। उस चरम सम्मान के लिये उन्हें अख्यात जन्मभूमि के गाँव की कुटिया के द्वार पर आकर खड़े होना पड़ता था। देश के साधारण लोग भी महदाशय व्यक्ति 'कहे' यह सरकार-प्रदत्त राजा महाराजा की उपाधि की अपेक्षा उनके निकट बड़ी चीज थी। जन्मभूमि के सम्मान को इन लोगों ने हृदय के साथ समझा था—राजधानी का माहात्म्य, राज सभा का गौरव इन लोगों के चित्त को अपने गाँव से विक्षिप्त नही कर पाया। इसीलिये देश के छोटे से गँवई गाँव मे भी कभी पानी का कष्ट नहीं हुआ। और मनुष्यत्व चर्चा की सम्पूर्ण व्यवस्था गाँव-गाँव मे सर्वत्र ही सुरक्षित रखी जाती थी।

मुझे गलत समझने की सभावना है। मैं यह बात नही कह रहा हूँ कि सभी लोग अपने-अपने गाव की मिट्टी को पकड़े पड़े रहो, विद्या और धनमान अर्जित करने के लिये बाहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस आकर्षण से बगालियो के दल को बाहर खीचा जा रहा है। उसके निकट कृतज्ञता स्वीकार करनी ही होगी—उससे बगालियो की सम्पूर्ण शक्ति को उद्बोधित करके उठाया जा रहा है एव बगालियो के कर्मक्षेत्र को व्यापक बनाकर उनके चित्त को विस्तीर्ण किया जा रहा है।

परन्तु इसी समय मे बगालियों को नियत स्मरण करा देने की आवश्यकता है कि घर और बाहर का जो स्वाभाविक सम्बन्ध है। वह जैसे एकदम ही उलट पुलट न हो जाय। बाहर अर्जन करना होगा, घर में सचय करने के लिए। बाहर शक्ति को जगाते हुए भी हृदय को अपने घर मे रखना होगा। शिक्षा पायेंगे बाहर, प्रयोग करेंगे घर में। परन्तु हमलोग आजकल :

घर को कहते बाहर, बाहर को कहते घर,
पर को कहते अपना, अपने को कहते पर।

पोलिटिकल साधना का चरम उद्देश्य एकमात्र देश के हृदय को एक करना है। परन्तु देश की भाषा को छोड कर, देश की प्रथा को छोड कर, केवल मात्र विदेशियो का हृदय आकर्षित करने के लिए बहुत प्रकार के आयोजनो को ही महोपकारी पोलिटिकल शिक्षा के रूप में गिनना हमारे ही अभागे देश में प्रचलित हो गया है।

देश के हृदय लाभ को ही यदि चरम लाभ के रूप मे स्वीकार करे तो देश के यथार्थ के समीप पहुँचने के लिए कौन-कौन से मार्ग सदैव खुले हुए हैं, उन सब को दृष्टि के सामने लाना पडेगा। सोचो, प्रोविंशियल कान्फ्रेंस को यदि हम लोग वास्तव मे ही देश की मन्त्रणा के काम मे नियुक्त करते, तो हमलोग क्या करते। वैसा होने पर हमलोग विलायती ढंग की एक सभा न बनाकर एक देशी तरीके का एक बडा मेला करते। वहाँ पर भजन मण्डली गायन-आमोद अह्लाद मे देश के लोग दूर दूरान्तर से आकर एकत्र होते। वहाँ पर देसी वस्तुओ और कृषि द्रव्यो की प्रदर्शनी होती। वहाँ पर अच्छे कथा-वाचक, कीर्तन-गायक और भजनमण्डलियो को पुरस्कार दिए जाते। वहाँ पर मैजिक लालटेन आदि की सहायता से साधारण लोगो को स्वास्थ्य सम्बन्धी की शिक्षा स्पष्ट रूप मे समझा कर दी जाती एव हमें जो कुछ कहने की बातें होतीं, जो कुछ सुख-दुःख के परामर्श होते, उनकी भली भाँति एक जगह मिल कर सरल भाषा मे चर्चा की जाती।

हमारा देश प्रधानत ग्रामवासी है। ये गाँव कभी-कभी जब अपनी नाडी के भीतर बाहर के वृहद् जगत के रक्त चलाचल को अनुभव करन के लिए उत्सुक हो उठते हैं, तब मेला ही उसका प्रधान उपाय है। यह मला ही हमारे देश मे बाहर को घर के भीतर बुलाता

है। इस उत्सव मे गाँव अपनी सम्पूर्ण संकीर्णता को भूल जाता है—उसके लिए हृदय खोलकर दान करने और ग्रहण करने का यही प्रधान उपलक्ष है। जिस प्रकार आकाश से जल से जलाशय को पूर्ण करने के लिए वर्षा का आगमन होता है, उसी तरह विश्व के भावो से गाँव के हृदय को भर देने का उपयुक्त अवसर मेला है।

यह मेला हमारे देश मे अत्यन्त स्वाभाविक है। किसी सभा के लिए यदि देश के लोगो को बुलाओ तो वे लोग सन्देह लिए हुए आएँगे, उन लोगो को हृदय खोलने मे बहुत देर लगेगी, परन्तु मेले के लिए जो लोग इकट्ठे होते हैं, वे लोग ही हृदय खोल कर आते हैं—सुतरां यहीं पर देश का हृदय पाने का यथार्थ अवकाश मिलता है। गाँवो ने जिस दिन हल बैल बन्द करके छुट्टी ली हो, वही दिन उनके समीप आकर बैठने का दिन है।

बङ्गाल देश में ऐसा जिला नही है, जहा नाना स्थानो पर वर्ष के विभिन्न दिनो मे मेले न होते रहते हो। प्रत्येक जिले का भद्र-शिक्षित सम्प्रदाय अपने यहाँ के मेलो को यदि नये भाव से जाग्रत्, नये प्राणो से सजीव कर सके इनके भीतर देश के शिक्षित लोग अपने हृदय का सचार कर दें, इन सब मेलो मे यदि वे लोग हिन्दू-मुसलमानो के बीच सम्भाव स्थापित करें—किसी तरह से निष्फल पालिटिक्स का संस्रव न रख कर विद्यालय, राह-घाट, जलाशय, गोचरभूमि आदि के बारे मे जिले मे जो सब अभाव हो, उन्हे दूर करने का उपाय सोचें, तो बहुत थोडे से समय के ही भीतर स्वदेश को यथार्थ ही सचेष्ट कर सकेंगे।

मेरा विश्वास है, यदि घूम घूम कर देश भर मे अनेक स्थानो पर मेला करने के लिए लोगो का एक दल तैयार हो जाय—वे लोग नये-नये भजन, कीर्तन, कथावार्ताओं की रचना करके, साथ मे सिनेमा, मैजिक लालटेन, व्यापार और जादूगरी की सामग्री लेकर

फिरते रहे, तो व्यय निर्वाह के लिए उन्हें तनिक भी नहीं सोचना पड़ेगा। वे लोग यदि सब ओर से विचार करके प्रत्येक मेले के लिए जमीदार को एक विशेष महसूल दे दें एवं दुकानदारों से यथानियम बिक्री पर लाभांश का प्राप्त करने का अधिकार पालें, तो उपयुक्त सुव्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण व्यापार को लाभदायक भी बना सकेंगे। इन लाभ के रुपयों से पारिश्रमिक एवं अन्यान्य खर्चों को काटकर जो कुछ बचे उसे यदि देश के काम में ही लगा दिया जाय तो उस मेला के दल के साथ सम्पूर्ण देश के हृदय का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट हो उठेगा—ये लोग सम्पूर्ण देश को बारीकी से जान लेंगे एवं इनके द्वारा कितने काम हो सकेंगे, उन्हें कह कर समाप्त नहीं किया जा सकता।

हमारे देश में चिरकालीन आनन्द-उत्सव के सूत्र से लोगों को साहित्य-रस और धर्म शिक्षा का दान किया गया है। सम्प्रति, अनेक कारणवश अधिकांश जमीदार शहर की ओर आकर्षित हुए हैं। उन लोगों के पुत्र-कन्यादि के विवाह आदि के समय पर जो कुछ आमोद-आह्लाद होता है, वह सब केवल शहर के धनी-बन्धु बांधवों को थियेटर और नाच-गाना दिखा कर ही सम्पन्न हो जाता है। बहुत से जमींदार क्रिया-कर्म में प्रजाजनों से चन्दा लेने में भी कुण्ठित नहीं होते—उस जगह 'इतरे जन.' मिष्टान्न का उपाय बना रखते हैं, परन्तु 'मिष्टान्नम्' 'इतरे जनाः' कण मात्र भी भोग नहीं कर पाते—भोग करते हैं 'बन्धवाः' एवं 'साहेबाः'। इससे देश के सभी गाँव दिन प्रतिदिन निरानन्द होते जा रहे हैं और जिस साहित्य से देश के आबाल वृद्ध वनिता के मन को सरस और शोभान बनाये रखा गया था, वह प्रतिदिन ही साधारण लोगों के आपत्तातीत होता जा रहा है। हमारा यह कल्पित-मेला-सम्प्रदाय यदि साहित्य की धारा, आनन्द के स्रोत को देश के गाँवों के दरवाजे पर फिर एकबार प्रवाहित कर सके तो इस शस्यश्यामला भारतभूमि का अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन शुष्क मरुभूमि नहीं होता चला जायगा।

हम लोगों को यह बात याद रखनी होगी कि जो सब बड़े-बड़े जलाशय हमलोगो को जल, दान स्वास्थ्य करते थे, उन सबने दूषित होकर केवल हमलोगों के लिए जल-कष्ट ही उत्पन्न कर दिया है, ऐसा नही है, वे सब हम लोगों को रोग और मृत्यु वितरण कर रहे हैं; उसी तरह हमारे देश मे जो सब मेले धर्म के नाम पर प्रचलित हैं, उनका भी अधिकांश आजकल क्रमश: दूषित होकर केवल लोक-शिक्षा के ही अयोग्य हो गया हो ऐसा नहीं है, कु-शिक्षा का भी समुद्र हो उठा है। ऐसी अवस्था मे कुत्सित आमोद के उपलक्ष से इन मेलों का यदि हमलोग उद्धार न करें, तो स्वदेश के समीप, धर्म के समीप अपराधी सिद्ध होंगे।

अपने देसी लोगो के साथ देसी धारा मे मिलने का क्या उपलक्ष हो सकता है, मैंने केवल उसीका एक दृष्टान्त दिया है, एवं इस उपलक्ष को नियम मे बांधकर, आयत्त मे लाकर, किस तरह से एक देशव्यापी मंगल-व्यापार में परिणत किया जा सकता है, उसी का आभास दिया गया है।

जो लोग राज-द्वार पर भिक्षावृत्ति को देश के सर्वप्रधान मङ्गल-व्यापार के रूप में नही गिनते, उन्हे अन्य पक्ष ने 'पेसिमिस्ट' अर्थात् 'आशाहीनों के दल' का नाम दिया है। अर्थात् राजा से कोई आशा न रखने के कारण जैसे हम लोग निराश होकर पड़े हुए हैं।

मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ, राजा हम लोगो को कभी-कभी डडे की मार से अपने सिंह-द्वार से भगा देते हैं, इसलिए हम अगत्या आत्म-निर्भरता को श्रेयस्कर समझते हैं, मैं किसी भी दिन ऐसी दुर्लभ-द्राक्षा-गुच्छ-लुब्ध-हतभाग्य शृगाल की सान्त्वना का आश्रय नही लेता। मैं यही बात कहता हूँ, दूसरे की कृपा की भिक्षा ही यथार्थ में 'पेसिमिस्ट' आशाहीन दीन का लक्षण है। गले में कांछ डाले विना हम लोगो की गति नहीं है, यह बात मैं किसी तरह भी नही कहूँगा। मैं स्वदेश पर

विश्वास करता हूँ, मैं आत्म शक्ति का सम्मान करता हूँ। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि जिस उपाय से भी हो, हम लोग अपने भीतर ऐक्य उपलब्ध करके आज जिस सार्थकता को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हुए हैं, उसकी भित्ति यदि दूसरे की परिवर्तनशील प्रसन्नता के ऊपर ही प्रतिष्ठित हो, तो वह बार-बार ही व्यर्थ होती रहेगी। अतएव भारतवर्ष का यथार्थ मार्ग कौन सा है, हमे चारो ओर से उसी की खोज करनी पडेगी।

मनुष्य के साथ मनुष्य का आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना ही चिरकाल से भारतवर्ष की सर्वप्रधान चेष्टा थी। हम लोग जिस किसी भी मनुष्य के सम्पर्क मे आते हैं, उसके साथ एक सम्बन्ध का निर्णय कर बैठते हैं। इसीलिए किसी भी अवस्था मे मनुष्य को हम लोग अपने कार्य-साधन की मशीन अथवा मशीन के पुर्जे के रूप मे अनुभव नहीं कर पाते। इसकी अच्छाई बुराई दोनो ही हो सकती हैं, परन्तु यह हमारे देश की रीति है, यही क्यो, उससे भी बडी वस्तु है, यह पूर्व की रीति है।

आवश्यकता के सम्बन्ध को हम लोग हृदय के सम्बन्ध द्वारा शोधन करने के बाद ही व्यवहार मे ला पाते हैं। भारतवर्ष काम करने के लिए बैठते समय भी मानव-सम्बन्ध के माधुर्य को नही भूल पाता। इस सम्बन्ध के समस्त दायित्व को वह स्वीकार कर बैठता है। हमारे इस दायित्व को सहज मे स्वीकार कर लेने से ही भारतवर्ष के घर घर मे, ऊँच नीच मे, गृहस्थ और अतिथि मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध की व्यवस्था स्थापित हो गई है। इसीलिए इस देश म, बावडी, पाठशाला, जलाशय, अतिथिशाला, देवालय, ऊँचे-लूले-लँगडो के प्रतिपालन आदि के बारे मे किसी भी दिन किसी को भी सोचना नही पडा।

आज यदि यह सामाजिक सम्बन्ध विश्लिष्ट हो जाय, यदि अन्नदान, जलदान, आश्रयदान, स्वास्थ्यदान, विद्यादान आदि सामाजिक कर्तव्य

छिन्न-समाज से स्खलित होकर बाहर जा गिरें तो हम लोग एकदम ही अंधेरे को नहीं देखेंगे ।

घर और गांव के क्षुद्र-सम्बन्ध का अतिक्रमण करके प्रत्येक को विश्व के साथ योगयुक्त करके अनुभव करने के लिए हिन्दू धर्म ने मार्ग-निर्देश किया है । हिन्दू धर्म ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन पचयज्ञ के द्वारा देवता, ऋषि, पितृपुरुष समस्त मनुष्य एव पशु-पक्षियो के साथ अपना मङ्गल-सम्बन्ध स्मरण करने मे प्रवृत्त किया है । यह यथार्थ रूप मे पालन किए जाने पर व्यक्तिगत भाव से प्रत्येक के पक्ष मे और साधारण भाव से विश्व के पक्ष मे मगलकर हो उठता है ।

हमारे समाज मे प्रत्येक के साथ सम्पूर्ण देश का एक प्रात्यहिक सम्बन्ध बाँध देना क्या असम्भव है । प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति स्वदेश का स्मरण करके एक पैसा अथवा उससे भी कम, एक मुट्ठी अथवा आधी मुट्ठी चावल क्या स्वदेश-बलि के रूप मे उत्सर्ग नहीं कर सकेगा ? स्वदेश के साथ हमारा मङ्गल सम्बन्ध है—वह क्या हमारे लिए व्यक्तिगत नहीं होगा । हम लोग क्या स्वदेश को जलदान, विद्यादान प्रभृति मगल-कर्मों को पराये हाथ मे समर्पित करके, देश से अपनी चेष्टा, चिन्ता और हृदय को एक दम विच्छिन्न कर डालेंगे । गवर्नमेन्ट आज बगाल-देश के जलकष्ट को दूर करने के लिए पचास हज़ार रुपये दे रही है—मान लीजिए, हमारे आन्दोलन के प्रचण्ड तगादे पर पचास लाख रुपये दे दिए और देश मे पानी का कष्ट बिल्कुल नही रहा—उसका फल क्या हुआ । उसका फल यही हुआ कि सहायता लाभ—कल्याण लाभ के सूत्र से देश का जिस हृदय ने इतने समय तक समाज के भीतर ही काम किया था और तृप्ति पाई थी, उसे विदेशी के हाथ में सौंप दिया गया । जहाँ से देश सम्पूर्ण उपकार प्राप्त करेगा, वही पर वह अपना हृदय स्वभावतः ही दे देगा । देश के रुपये अनेक मार्गों से, अनेक रूपो मे विदेश की ओर दौड़े जा रहे हैं । कहकर हम लोग आक्षेप करते हैं—परन्तु देश का

हृदय यदि जाता है, देश के साथ जो कुछ कल्याण-सम्बन्ध है, एक एक करके सभी यदि विदेशी गवर्नमेन्ट के हाथ मे पहुँच जाता है, हमारे पास और कुछ भी नही बच रहता, तो क्या वह विदेशगामी रुपयो के स्रोत की अपेक्षा कम आक्षेप का विषय होगा। क्या इसीलिए हम लोग सभा करते हैं, दरख्वास्त करते हैं और इस तरह देश को भीतर-बाहर से सम्पूर्ण भाव से पराये हाथ मे दे देने के लिए प्रयत्न करने को ही क्या देश-हितैषिता कहते हैं। ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। इसे कभी भी चिरकाल तक इस देश मे प्रश्रय नही मिलेगा—कारण, यह भारतवर्ष का धर्म नही है। विदेशी चिरकाल तक हमारे स्वदेश को अन्न-जल और विद्या की भिक्षा देंगे, हमारा कर्तव्य केवल यही होगा कि भिक्षा का अ श मन के मुताबिक न होने से हम लोग चीत्कार करते रहेगे? कभी नही, कभी नही। स्वदेश का भार हम मे से प्रत्येक और प्रतिदिन ही ग्रहण करेगा—उसी मे हमारा गौरव है, हमारा धर्म है। इस बार समय आया है, जब हमारा समाज एक सुवृहद् स्वदेशी समाज बन जायगा। समय आया है, जब प्रत्येक जानेगा कि मैं अकेला नही हूँ—मेरे क्षुद्र होने पर भी मुझे कोई त्याग नही सकेगा, एव क्षुद्रतम को भी मैं नही त्याग सकूँगा।

पहले ही कह चुका हूँ, समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन अति अल्प परिमाण में भी स्वदेश के लिए कुछ उत्सर्ग करेगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक घर मे विवाहादि शुभकर्मों मे गाँव की भट्टी आदि की तरह इस स्वदेशी समाज के एक प्राप्य को देना दुरूह नही समझेगा। इसके यथा-स्थान सग्रहीत होने पर अर्थाभाव नही रहेगा। हमारे देश मे स्वेच्छादत्त दान से बड़े-बड़े मठ, मन्दिर चल रहे हैं, इस देश मे क्या समाज स्वेच्छा से अपने आश्रयस्थान की रचना स्वय नहीं करेगा। विशेषकर जब अन्न, जल, स्वास्थ्य, विद्या से देश सौभाग्य प्राप्त करेगा, तब कृतज्ञता कभी भी निश्चेष्ट नहीं रहेगी।

आत्मशक्ति को एक विशेष स्थान पर सदैव सचित करने, उस विशेष स्थान से उपलब्ध करने, उस विशेष स्थान से प्रयोग करने की कोई व्यवस्था रहने पर, हमारे लिए कैसी प्रयोजनीय बन गई है, थोडी सी आलोचना करने पर वह स्पष्ट समझ मे आजायगा।

हमारे देश मे बीच-बीच मे साधारण बातो पर हिन्दू मुसलमानो में झगडा उठ खडा होता है, उस विरोध को मिटाकर दोनो पक्षो में प्रीति और शान्ति की स्थापना, दोनो पक्षो के अपने-अपने अधिकार नियमित कर देने का विशेष कर्तव्य समाज के किसी स्थान मे यदि न रहे, तो समाज बारम्बार क्षत विक्षत होकर उत्तरोत्तर दुर्बल होता चला जायगा।

अपनी शक्ति पर अविश्वास मत कीजिए आप लोग निश्चित जान लीजिए, समय उपस्थित हो गया है। निश्चित जान लीजिए, भारतवर्ष के भीतर एक सयुक्त बनाये रखने वाले धर्म ने चिरकाल से निवास किया है। अनेक प्रतिकूल मामलो के भीतर पडकर भी भारतवर्ष बराबर एक व्यवस्था करता रहा है। वही आज भी रक्षा करेगा। इस भारतवर्ष के ऊपर मैं विश्वास की स्थापना करूँ। यह भारतवर्ष इसी समय इसी क्षण धीरे-धीरे नवीन काल के साथ अपने पुरातनकाल के एक आश्चर्यजनक सामजस्य की स्थापना कर रहा है। हममें से प्रत्येक सन्तानभाव से इसमे योगदान दे सकते हैं-जडता के वशीभूत होकर अथवा विद्रोह की ताडना से प्रतिक्षण इसकी प्रतिकूलता न करे।

बाहर के साथ हिंदू समाज का सघात यह नया नही है। भारतवर्ष मे प्रवेश करके आर्यगणों के साथ यहाँ के आदिम निवासियो का तुमुल विरोध उठ खडा हुआ था। इस विरोध मे आर्यगण विजयी हुए, परन्तु अनार्य लोग आदिम आस्ट्रेलियन अथवा अमेरिकनो की भाँति हटा नही दिए गये, वे लोग आर्य उपनिवेश से बहिष्कृत नहीं हुए, वे लोग अपने आचार विचार की समस्त भिन्नताओ के रहते हुए भी एक सामजस्य

के भीतर स्थान पा गए। उन्हे ग्रहण करके आर्य समाज विचित्र बन गया।

यह समाज एक बार और भी सुदीर्घकाल तक विश्लिष्ट हो गया था। बौद्ध प्रभाव के समय बौद्ध धर्म के आकर्षण से भारतीयो के साथ बहुत से परदेशी लोगों का घनिष्ट सम्पर्क हुआ था। विरोध के सम्पर्क की *अपेक्षा यह मिलन का सम्पर्क और भी गुरुतर था। विरोध मे* आत्मरक्षा की चेष्टा बराबर जाग्रत् रहती है। मिलन की असतर्क अवस्था मे अति सहज ही सब कुछ एकाकार हो जाता है। बौद्ध भारतवर्ष में वही हुआ था, उस ऐशियाव्यापी धर्मप्लावन के समय अनेक जातियों के आचार व्यवहार क्रिया कर्म बहते हुए आ गए थे, कोई ठहर नहीं रुका।

परन्तु इस अत्यन्त बड़ी उच्छखलता के बीच मे भी *व्यवस्था-स्थापन की प्रतिभा ने भारतवर्ष को नही त्यागा। जो कुछ घर का था* और जो कुछ आया हुआ था, सब को इकट्ठा करके दूसरी बार भारतवर्ष ने अपने समाज को सुविहित करके गठन कर दिया, पूर्व की अपेक्षा और भी विचित्र हो उठा। परन्तु इस विपुल वैचित्र्य के मध्य अपने एक ऐक्य को उसने सभी जगह ग्रथित कर दिया था।

सम्प्रदाय ने उसकी कोई खबर नही रखी। यदि रखता तो देख लेता कि अब भी भीतर ही भीतर इस सामजस्य-साधन की सजीव प्रक्रिया बन्द नही है।

सम्प्रति एक ओर प्रबल विदेशी, एक ओर धर्म आचार व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा लेकर आ उपस्थित हुआ है। इस तरह पृथ्वी पर जिन चार प्रधान धर्मों का आश्रय लेकर चार बडे समाज हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई—वे सभी भारतवर्ष मे आकर मिल गए है। विधाता ने जैसे एक बृहद् सामाजिक-सम्मिलन के लिए भारतवर्ष में ही एक बडा रासायनिक कारखाना घर खोल दिया है।

यहां पर एक बात मुझे स्वीकार करनी पडेगी कि बौद्ध प्रादुर्भाव के समय समाज मे जो तब्द मिश्रण और विपर्यस्तता घटी थी, उससे परवर्ती हिन्दू समाज के भीतर एक भय का लक्षण रह गया था।

बौद्ध परवर्ती हिंदू समाज अपना जो कुछ है और था उसको चारो ओर से रक्षा करने के लिये पराये सम्पर्क से स्वय को सर्वतोभाव से अवरुद्ध रखने के लिए, स्वय को जाल से घेर बैठा था। इससे भारतवर्ष को अपना एक बडा पद खो देना पडा। किसी समय भारतवर्ष ने पृथ्वी पर गुरु का आसन प्राप्त किया था, धर्म, विज्ञान, दर्शन मे भारतीय हृदय के साहस की सीमा नही थी, वह हृदय चारो ओर सुदुर्गम सुदूर

के भीतर स्थान पा गए। उन्हें ग्रहण करके आर्य समाज विचित्र बन गया।

यह समाज एक बार और भी सुदीर्घकाल तक विश्लिष्ट हो गया था। बौद्ध प्रभाव के समय बौद्ध धर्म के आकर्षण से भारतीयों के साथ बहुत से परदेशी लोगों का घनिष्ट सम्पर्क हुआ था। विरोध के सम्पर्क की अपेक्षा यह मिलन का सम्पर्क और भी गुरुतर था। विरोध में आत्मरक्षा की चेष्टा बराबर जाग्रत् रहती है। मिलन की असतर्क अवस्था में अति सहज ही सब कुछ एकाकार हो जाता है। बौद्ध भारतवर्ष में यही हुआ था, उस ऐशियाव्यापी धर्मप्लावन के समय अनेक जातियों के आचार व्यवहार क्रिया कर्म बहते हुए आ गए थे, कोई ठहर नहीं सका।

परन्तु इस अत्यन्त बड़ी उच्छृखलता के बीच में भी व्यवस्था-स्थापन की प्रतिभा ने भारतवर्ष को नहीं त्यागा। जो कुछ घर का था और जो कुछ आया हुआ था, सब को इकट्ठा करके दूसरी बार भारतवर्ष ने अपने समाज को सुविहित करके गठन कर दिया, पूर्व की अपेक्षा और भी विचित्र हो उठा। परन्तु इस विपुल वैचित्र्य के मध्य अपन एक ऐक्य को उसने सभी जगह ग्रथित कर दिया था।

इसके बाद इसी भारतवर्ष में मुसलमानों का सघात आ उपस्थित हुआ। इस सघात ने समाज पर कुछ भी आक्रमण नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता। उस समय हिंदू समाज में इस पर सघात के साथ सामजस्य साधन की प्रक्रिया सर्वत्र ही आरम्भ हो गई थी। हिंदू और मुसलमान समाज के बीच एक ऐसे सयोग स्थल की सृष्टि हो रही थी, जहा पर दोनों समाजों की सीमा रेख मिलती आ रही थी, नानकपथी, कबीरपथी, और निम्न श्रेणी के वैष्णव समाज इसके दृष्टा तस्थल हैं। हमारे देश में जन-साधारण के बीच अनेक स्थानों पर धर्म और आचार को लेकर जो सब ध्वस निर्माण चल रहा है, शिक्षित

सम्प्रदाय ने उसकी कोई खबर नहीं रखी। यदि रखता तो देख लेता कि अब भी भीतर ही भीतर इस सामजस्य-साधन की सजीव प्रक्रिया बन्द नहीं है।

सम्प्रति एक ओर प्रबल विदेशी, एक ओर धर्म आचार-व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा लेकर आ उपस्थित हुआ है। इस तरह पृथ्वी पर जिन चार प्रधान धर्मों का आश्रय लेकर चार बड़े समाज हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई—वे सभी भारतवर्ष मे आकर मिल गए हैं। विधाता ने जैसे एक बृहद् सामाजिक-सम्मिलन के लिए भारतवर्ष मे ही एक बड़ा रासायनिक कारखाना घर खोल दिया है।

यहाँ पर एक बात मुझे स्वीकार करनी पड़ेगी कि बौद्ध प्रादुर्भाव के समय समाज मे जो एक मिश्रण और विपर्यस्तता घटी थी; उससे परवर्ती हिन्दू समाज के भीतर एक भय का लक्षण रह गया था।

बौद्ध परवर्ती हिंदू समाज अपना जो कुछ है और था उसको चारो ओर से रक्षा करने के लिये पराये सम्पर्क से स्वयं को सर्वतोभाव से अवरुद्ध रखने के लिए, स्वयं को जाल से घेर बैठा था। इससे भारतवर्ष को अपना एक बड़ा पद खो देना पड़ा। किसी समय भारतवर्ष ने पृथ्वी पर गुरु का आसन प्राप्त किया था; धर्म, विज्ञान, दर्शन मे भारतीय हृदय के साहस की सीमा नहीं थी; वह हृदय चारो ओर सुदुर्गम सुदूर प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए अपनी शक्ति को अबाध रूप से प्रेरित करता था। इस तरह भारतवर्ष ने जिस गुरु के आसन को जीता था, उससे आज वह भ्रष्ट हो गया है—आज उसे छात्रत्व (शिष्यत्व) स्वीकार करना पड़ रहा है। इसका कारण है, हमारे मन के भीतर भय घुस गया है। समुद्र-यात्रा को हमने भयभीत होकर सब ओर से बन्द कर दिया—चाहे जलमय समुद्र हो, चाहे ज्ञानमय समुद्र हो। हम लोग थे विश्व के, खड़े हो गये गाँव मे। सचय और रक्षा करने के लिए समाज मे जो भीरु स्त्री-शक्ति है, वह शक्ति ही कौतूहल पर परीक्षाप्रिय,

साधनशील पुरुष शक्ति को पराभूत करके एकाधिपत्य प्राप्त कर बैठी। इसीलिए हम लोग ज्ञान-राज्य मे भी दृढ सस्कार-वद्ध स्त्रैण प्रकृति सम्पन्न होकर पडे हुए हैं। ज्ञान का व्यवसाय भारतवर्ष ने जो कुछ आरम्भ किया था, जो प्रतिदिन बढता हुआ ससार के ऐश्वर्य का विस्तार कर रहा था। वह आज और नहीं बढ रहा है, वह खोता ही चला जा रहा है।

ज्ञान का अधिकार, धर्म का अधिकार, तपस्या का अधिकार हमारे समाज के यथार्थ प्राण के आधार थे। जब से आचार-पालन मात्र ने ही तपस्या का स्थान ग्रहण कर लिया, तब से हम लोग दूसरे को भी कुछ नहीं दे रहे हैं, अपना भी जो कुछ था, उसे भी अकर्मण्य और विकृत कर रहे हैं।

यह निश्चित जान लेना चाहिये, प्रत्येक जाति ही विश्व-मानव का अङ्ग है। विश्व मानव को दान करने की, सहायता करने की सामग्री क्या आविष्कार कर रही है, इसी का सदुत्तर देकर प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। जिस समय से उस आविष्कार की प्राणशक्ति को कोई जाति खो देती है, उसी समय से उस विराट मानव के कलेवर में पक्षाघात ग्रस्त अ ग की भाँति वह केवल भारस्वरूप बन जाती है। वस्तुत केवल टिके रहना ही गौरव नहीं है।

भारतवर्ष राज्य के लिए मार-काट, वाणिज्य के लिये खींचतान नहीं करता। आज जो तिब्बत, चीन, जापान अभ्यागत यूरोप के भय से समस्त द्वार- वातायनों को बन्द कर देने के इच्छुक हैं, वही तिब्बत, चीन, जापान भारतवर्ष को गुरु कह कर आदर सहित निरुत्कण्ठित चित्त से घर के भीतर बुला ले गये थे। भारतवर्ष सेना और सामग्री लेकर समस्त पृथ्वी की अस्थिमज्जा को उद्वेजित नहीं करता फिरा— सर्वत्र शान्ति, सान्त्वना और धर्म-व्यवस्था की स्थापना करके उसने मानव की भक्ति पर अधिकार किया था। इस तरह से उसने जो गौरव

प्राप्त किया था, वह तपस्या के द्वारा किया था और वह गौरव राज्य चक्रवर्तित्व की अपेक्षा बडा था।

उस गौरव को खोकर हमलोग जब अपनी सब गठरी-पोटलियो को लेकर भीत हृदय से कोने मे बैठे हुए थे, ऐसे समय मे अंग्रेजो के आने की आवश्यकता थी। अंग्रेजो के प्रबल आघात से इस भीरु, पलातक समाज के छोटे-बडे अनेक स्थान भग्न हो गये। बाहर से डर कर जिस तरह दूर बने हुये थे, बाहर उसी तरह दनदनाता हुआ एकदम गर्दन के ऊपर आ गिरा—अब इसे रोकने की किसमे सामर्थ्य है। इस उत्पात से हमारी जो दीवार टूट गई, उसमे हमने दो वस्तुओं का आविष्कार किया। हम लोगो की कैसी आश्चर्य जनक शक्ति थी, वह दृष्टि मे पडी एव हम लोग कैसे अशक्त हो गये हैं, यह भी पकड मे आने मे विलम्ब नहीं हुआ।

आज हम इस बात को अच्छी तरह समझ गये हैं कि अलग हट कर शरीर को ढाके हुये बैठे रहने को ही आत्मरक्षा नही कहा जाता। अपनी अन्तर्निहित शक्ति को सर्वतोभाव से जाग्रत करना और चलाते रहना ही आत्म-रक्षा का प्रकृत उपाय है। यह विधाता का नियम है। कोने मे बैठकर केवल 'गया' 'गया' कहकर हाहाकार करके मरने का कोई फल नही है। सब विषयो मे अंग्रेजो का अनुकरण करके छद्मवेष पहिन कर बचने की जो चेष्टा है, वह भी स्वय को भुलावे मे रखना मात्र है हम लोग प्रकृत अंग्रेज नही हो सकेंगे, नकली अंग्रेज बनकर भी हम अंग्रेजो को भुलावे मे नहीं डाल सकेंगे।

हमारी बुद्धि, हमारा हृदय, हमारी रुचि जो प्रतिदिन पानी के मूल्य मे बिकते जा रहे हैं, उसे रोकने का एकमात्र उपाय है—हमलोग स्वय मे जो है, उसी रूप मे सज्ञानभाव से, सबलभाव से, सचल भाव से, सम्पूर्ण भाव से उठ खडे हो।

हमारी जो शक्ति अवद्ध (बंद) है, वह विदेश से विरोध का

आघात पाकर ही मुक्त होगी—कारण, आज पृथ्वी पर उसकी जरूरत आ पड़ी है। हमारे देश के तपस्वी तपस्या के द्वारा जो शक्ति संचित कर गये हैं, वह बहुमूल्य है, विधाता उसे निष्फल नहीं करेंगे। इसीलिए उपयुक्त समय पर ही उन्होंने निश्चेष्ट भारत को सुकठिन पीड़न के द्वारा जाग्रत किया है।

बहु के बीच ऐक्य की उपलब्धि, विचित्र के बीच ऐक्य-स्थापन, यही भारतवर्ष का अन्तर्निहित धर्म है। भारतवर्ष पार्थक्य को विरोध के रूप में नही देखता। वह पर को शत्रु के रूप मे कल्पना नहीं करता। इसीलिए त्याग न करके, विनाश न करके, एक वृहद व्यवस्था के मध्य वह सभी को स्थान देना चाहता है। इसीलिए सब मार्गों को वह स्वीकार करता है। अपने स्थान पर वह सभी के माहात्म्य को देख पाता है।

भारतवर्ष का यह गुण रहते हुये किसी भी समाज को हमलोग विरोधी के रूप में कल्पना करके भीत नहीं होंगे। हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई भारतवर्ष के क्षेत्र मे परस्पर लड़ाई करके नही मरेंगे, यहीं पर उनका सामंजस्य ढूँढ लिया जायगा। इस सामंजस्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग मे कितनी ही देश विदेश की वस्तुएँ हो, उनका प्राण उनकी आत्मा भारतवर्ष की होगी।

हमलोग भारतवर्ष के विधातृ-निर्दिष्ट इस नियोग का यदि स्मरण करें। तो हमारा लक्ष्य स्थिर हो जायगा, लज्जा दूर हो जायगी—भारतवर्ष के भीतर जो एक मृत्यु-हीन शक्ति है, उसकी खोज पा लेंगे। हम लोगो को यह स्मरण रखना ही होगा कि यूरोप के ज्ञान–विज्ञान को हम लोग चिरकाल तक छात्र की तरह ही ग्रहण करते रहेंगे। ऐसा नहीं है। भारतवर्ष की सरस्वती ज्ञान–विज्ञान के समस्त दल और दलादली को एक शत-दल पद्म के भीतर विकसित कर देंगी, उनकी खण्डता को दूर कर देंगी। ऐक्य साधन ही भारतवर्षीय प्रतिभा का

प्रधान कार्य है भारतवर्ष किसी को भी त्यागने, किसी को भी दूर रखने के पक्ष में नहीं है; भारतवर्ष सभी को स्वीकार करने ग्रहण करने, विराट एक के बीच सभी की स्व-स्व प्रधान प्रतिष्ठा को उपलब्ध करने का मार्ग इस विवादनिरत व्यवधान सकुल पृथ्वी के सम्मुख एक दिन निर्दिष्ट कर देगा।

उस सुमहत् दिन के आने से पहले—'एक बार तुम लोग माँ कह करपुकारो।' जो माँ देश के प्रत्येक को गोद में खींचने अनैक्य को मिटाने, रक्षा करने के लिए नियत व्यापृत् रही है, जो अपने भण्डार के चिर-सञ्चित ज्ञान धर्म को अनेक आकार मे, अनेक उपलक्ष से हमारे प्रत्येक के अन्त:करण के भीतर अशान्त भाव से सचार करके हमारे चित को सुदीर्घ पराधीनता की निशीथरात्रि मे विनाश से बचाती चली आ रही है—देश के मध्य स्थल मे स तान परिवृत वस था। मे उन्हें प्रत्यक्ष उपलब्ध करो। हमारा देश तो एकसमय धन को तुच्छ समझता था, एक समय दारिद्रय को शोभन और महिमान्वित करना सीखा था, आज हमलोग क्या रुपयों के समीप साष्टाङ्ग धूलि लुण्ठित होकर अपने सनातन स्वधर्म अपमानित करेंगे। आज फिर हम लोग उसी शुचि शुद्ध उसी मित-संयत उसी स्वल्पोपकरण जीवन-यात्रा को ग्रहण करके अपनी तपस्विनी जननी की सेवा मे नियुक्त नहीं हो सकेंगे? एक दिन जो हमारे लिये नितान्त ही सहज था। वह क्या हमारे लिये आज एकदम ही असाध्य हो उठा है।—कभी भी नहीं। निरतिशय दु समय में भी भारतवर्ष का नि.शब्द प्रकाण्ड प्रभाव धीरभाव मे निगूढभाव में स्वय को विजयी बनाता रहा था। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, भारतवर्ष का सुगम्भीर आह्वान प्रतिपल हमारे वक्ष कुहर मे ध्वनित हो उठता है; एव हमलोग अपने अलक्ष्य में शनै: शनै: उसी भारतवर्ष की ओर ही चले हैं। आज जहाँ मार्ग हमारे मगलदीपोज्ज्वल घर की ओर चला गया है। यहीं पर अपने गृहयात्रारम्भ के अभिमुख खड़े होकर एकबार तुम लोग माँ कह कर पुकारो!'

लोकहित

जनसाधारण नामक एक पदार्थ हमारे देश मे है, इसका हम लोग कुछ दिनो से अनुमान कर रहे हैं एव 'इस जनसाधारण के लिए कुछ करना चाहिए,' हठात् यह भावना हमारे मस्तक को दबा बैठी है। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी। इस कारण, भावना के लिए ही भावना होती है।

हम दूसरे का उपकार करेंगे, यह सोचकर ही उपकार नहीं कर सकते। उपकार करने का अधिकार होना चाहिए। जो बड़ा है, वह छोटे का अपकार अत्यन्त सरलता से कर सकता है, परन्तु छोटे का उपकार करने पर केवल बड़े होने से काम नहीं चलेगा—छोटा बनना पड़ेगा, छोटे के समान होना पड़ेगा। मनुष्य किसी दिन किसी यथार्थ हित को भिक्षा के रूप मे ग्रहण नही करेगा, ऋण के रूप मे भी नहीं, केवल मात्र प्राप्य कह कर ही ग्रहण कर सकेगा।

परन्तु, हम लोग लोकहित के लिए जब उतावले होते हैं, उस समय बहुत जगह उस उतावलेपन के मूल मे एक अभिमान का नशा रहता है। हम लोग जनसाधारण की अपेक्षा सब विषयों मे बड़े हैं, इसी बात को राजकीय चाल से सम्भोग करने का उपाय उन लोगों का हित करने का आयोजन है। ऐसे स्थान पर उन लोगों का भी अहित करते हैं, स्वयं का भी हित नहीं करते।

हित करने का एकमात्र ईश्वरदत्त अधिकार है। वह है प्रीति। प्रीति के दान मे कोई अपमान नही है, परन्तु हितैषिता के दान मे

मनुष्य अपमानित होता है। मनुष्य को सबसे अधिक झुकाने का उपाय है—उसका हित करना, अथच उससे प्रीति न करना।

यह बात अनेक समय मे सुनी जाती है कि मनुष्य स्वभावत ही अकृतज्ञ है—जिसके निकट वह ऋणी है, उसका परिहार करने के लिए उसकी चेष्टा रहती है। महाजनो येन गत स पथा, इस उपदेश को जहाँ तक हो सकता है, कोई नही मानता। उसके महाजन (महापुरुष) जिस रास्ते पर होकर चलते हैं, मनुष्य उस रास्ते पर चलना एकदम छोड़ देता है।

इसका कारण यह नही कि स्वभावत ही मनुष्य का मन विकृत है। इसका कारण यही है कि, महाजन को सूद (ब्याज) देनी होती है, वह सूद असल को छुआ जाती है। हितैषी जिस सूद को वसूल करता है वह मनुष्य का आत्म सम्मान है, वह भी ले लेगा और कृतज्ञता की भी माँग करेगा, यह जैसे शाइलक का बाड़ा हो गया।

इसीलिए, लोकहित करने म लोक की विपत्ति है, यह बात सुनने से काम नहीं चलेगा। लोक के साथ स्वयं को पृथक रखकर यदि उसका हित करने चलें तो उस उपद्रव को लोक में सहन न करके ही, उनका हित होता।

थोड़े दिन हुए, इस बारे म हमें एक शिक्षा मिल चुकी है। चाहे जिस कारण से हो, जिस दिन स्वदेशी नमक के प्रति अचानक ही हमलोगों को एक अत्यन्त आकर्षण हुआ था, उस दिन हमने देश के मुसलमानों को कुछ अस्वाभाविक उच्चस्वर में ही आत्मीय कह कर, भाई कह कर पुकारना आरम्भ कर दिया।

उस स्नेह की पुकार पर जब उन लोगों ने अश्रु गद्गद कण्ठ से उत्तर नही दिया, उस समय हमने उन लोगो पर बहुत गुस्सा किया था। सोचा था, यह नितान्त ही उन लोगो की शैतानी है। एक दिन के

लिए भी नहीं सोचा कि हमारी पुकार के भीतर गरज थी, परन्तु सत्य नहीं था। मनुष्य के साथ मनुष्य की जो एक साधारण सामाजिकता है, जिस सामाजिकता के आकर्षण से हम लोग सहज प्रीति के वशीभूत होकर मनुष्य को घर में बुला लाते हैं, उसके साथ बैठकर खाते हैं, यद्यपि उसके साथ हमारा पार्थक्य रहता है, पर उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप में परिलक्षित नहीं होने देते—उस नितान्त साधारण सामाजिकता के क्षेत्र में जिसे हम लोग भाई कहकर, अपना कहकर नहीं मान पाते, मजबूरी में पड़ कर राष्ट्रीय क्षेत्र में भाई कहकर यथोचित सतर्कता के साथ उसे छाती से लगाने का नाटक करने पर वह कभी भी सफल नहीं हो सकता।

एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का, एक सम्प्रदाय के साथ दूसरे सम्प्रदाय का पार्थक्य तो रहता ही है, परन्तु साधारण सामाजिकता का काम ही यही है—उस पार्थक्य को रूढभाव से प्रत्यक्षगोचर न करना। धनी-दरिद्र में पार्थक्य है, परन्तु दरिद्र के अपने घर में आने पर धनी यदि उस पार्थक्य को न दबाये रखकर, उसे अत्युग्र बना डाले, तो फिर कुछ भी हो। मजबूरी रहने पर उसी दरिद्र की छाती से लगकर आँसू बरसाने के लिए जाने पर वह धनी के पक्ष में न तो सत्य होता है और न शोभन होता है।

हिसाब को कोई सग्रह करके नही रखता; परन्तु सामाजिकता के स्थान मे बातो ही बातो मे किसी के मे किसी के शरीर पर पाँव जमा देन पर उसे भूल पाना कठिन होता है। हमने विद्यालयो मे और आफिसो मे प्रतियोगिता की भीड मे मुसलमानो को जोर के साथ धक्का दिया था, वह पूर्णरूपेण प्रीति कर नही था, इसे मानता हूँ। फिर भी उस समय की ठेलाठेली शरीर को लग सकती है, हृदय को नही लग सकती। परन्तु समाज का अपमान शरीर मे नही लगता, हृदय मे लगता है। कारण, समाज का उद्देश्य ही यह है कि परस्पर के पार्थक्य के ऊपर सुशोभन सामजस्य का आस्तरण बिछा देना।

वङ्ग-भङ्ग के मामले ने हमारे अन्न वस्त्र मे हाथ नही लगाया था, हमारे हृदय पर आघात किया था। वह हृदय जितनी दूर तक अखण्ड था, उतनी दूर तक उसकी वेदना अपरिच्छिन्न थी। बगाल के मुसलमान इस वेदना मे हमारे साथ एक नही हुए, उसका कारण, उन लोगो के साथ हम लोगो ने कभी भी हृदय को एक नही होने दिया।

सस्कृत भाषा मे एक कहावत है, घर मे जब आग लग गई हो, तब कुआ खोदने की तय्यारी करना व्यर्थ है। वङ्ग-भङ्ग के दिन अचानक ही जब मुसलमानो को अपने दल मे खीच लाने की आवश्यकता हुई, तब हम लोगो ने वह कुँआ खोदने का प्रयत्न भी नही किया—हमने सोचा था, मिट्टी के ऊपर लुटिया ठोकते ही पानी अपने आप निकलेगा। पानी जब नही निकला, केवल धूलि ही उडी, तब हमारे विस्मय की सीमा-परिसीमा नही रही। आज तक उस कुआँ खोदने की बात को भूले हुए है। और भी बार-बार मिट्टी से लुटिया को ठोकना पडेगा, उसके साथ ही वह लुटिया को अपने सिर से ठोकेंगे।

जनसाधारण के सम्बन्ध मे भी हमारे भद्रसम्प्रदाय की ठीक यही अवस्था है। उन्हें सब प्रकार से अपमानित करना हमारा चिर-दिनो का अभ्यास है। यदि अपने हृदयो की ओर देखें तो यह बात स्वीकार करनी

ही पडेगी कि भारतवर्ष को हम लोग भद्र लोगो के भारतवर्ष के रूप मे ही जानते हैं। बगाल देश मे निम्न-श्रेणी के भीतर मुसलमानो की सख्या जो बढ गई है, उसका एक मात्र कारण है, हिन्दू भद्र समाज मे इस श्रेणी को हृदय के साथ अपना कहकर अपनाये हुए नही रक्खा गया।

हमारे उस मन के भाव मे कोई परिवर्तन नही हुआ, अथच इस श्रेणी के हित-साधन की बात की हम लोगो ने कस कर आलोचना करना आरम्भ कर दिया है। इसीलिए इस बात के स्मरण करने का समय आगया है कि हमलोग जिन लोगों को दूर रखकर अपमान करते हैं, उन लोगो के कल्याण साधन का समारोह करके उस अपमान की मात्रा बढ़ा कर कोई फल नही निकलेगा।

एक दिन जब हम लोग देश हित की ध्वजा को लेकर बाहर निकले थे, तब उसके भीतर देश का अंश प्राय: कुछ भी नही था, हित का अभिमान ही बडा था। उस दिन हम लोगों ने यूरोप की नकल करते हुए देश-हित शुरू किया था, हृदय के एकान्त तकाजे से नही। आज भी हम लोग लोक-हित के लिए जो उत्सुक हो उठे हैं, उस के भीतर बहुत कुछ नकल है। सम्प्रति यूरोप मे जन-साधारण वहाँ की राष्ट्रीय रंग भूमि पर प्रधान नायक की साज-सज्जा मे दिखाई दिए है। हम लोग दर्शक के रूप मे इतनी दूर हैं कि हम लोग उनके हाथ-पाँव हिलाने को जितना कुछ देख रहे हैं, उनकी वाणी को उस परिमाण मे नही सुन पाते हैं। इसीलिए नकल करने के समय यह अङ्ग-भङ्गी ही हमारा एकमात्र सम्बन्ध बन बैठती है।

परन्तु वहाँ पर क्या काण्ड हो रहा है, उसे जानना चाहिए।

यूरोप मे जिन लोगो की किसी समय विशिष्ट-साधारण मे गणना की जाती थी, वे उस जमाने के क्षत्रिय थे। उस समय काटा-काटी मारा-मारी का अन्त नहीं था। उस समय यूरोप के प्रबल बाहरी शत्रु

थे मुसलमान; और भीतर छोटे-छोटे राज्य एक दूसरे के ऊपर गिरते हुए केवल सिर फुटौअल किया करते थे । उस समय दुस्साहसी लोगो का दल चारो ओर अपने भाग्य की परीक्षा करता हुआ घूमता था—वहीं भी शान्ति नही थी ।

उस समय मे उस जमाने के क्षत्रिय ही देश के रक्षक थे । उस समय उन लोगो की प्रधानता स्वाभाविक थी । उस समय जनसाधारण के साथ उन लोगो का जो सम्बन्ध था, वह कृत्रिम नही था । वे लोग थे रक्षा करने वाले और शासन करने वाले । जनसाधारण मे उन लोगो को स्वाभाविक रूप से अपने से ऊपर रहने वाला मान लिया गया था ।

उसके बाद क्रमश अवस्था का परिवर्तन हुआ । अब यूरोप मे राजा के स्थान पर राष्ट्रतन्त्र दखल कर रहा है । युद्ध की तय्यारियाँ पहले की अपेक्षा बढ गई हैं, कम नही हुई हैं, परन्तु अब योद्धा की अपेक्षा युद्ध-विद्या बडी है, अब वीर्य के आसन पर विज्ञान का अभिषेक हुआ है । इसीलिए यूरोप मे पुराने जमाने के क्षत्रिय वश के लोग एव वे सब क्षत्रिय उपाधि धारी लोग यद्यपि अभी तक अपने आभिजात्य का गौरव लिए हुए हैं, फिर भी जनसाधारण के साथ उनका स्वाभाविक सम्बन्ध समाप्त हो गया है । इसीलिए राष्ट्र-सचालन के कार्य मे उनका आधिपत्य कम हो जाने पर भी उसे जाग्रत करके उठाने की शक्ति उनमे नही है ।

शक्ति की धारा इस समय क्षत्रिय को छोड कर वैश्य के कूल मे बह रही है । जनसाधारण के कधे के ऊपर वे लोग जमे बैठे हैं। मनुष्यो के द्वारा वे लोग अपने व्यवसाय के यन्त्र बना रहे हैं। मनुष्य के पेट की ज्वाला ही उनकी मशीन के लिए स्टीम उत्पन्न कर रही है ।

पूर्वकाल के क्षत्रिय-नायक के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध था । वह

था मानव सम्बन्ध। दु.ख, कष्ट, अत्याचार कितना भी रहा हो। फिर भी आपस मे हृदय के आदान-प्रदान का मार्ग था। अब वैश्य महाजनो के साथ मनुष्य का सम्बन्ध यान्त्रिक है। कर्म प्रणाली-नामक एक प्रकाण्ड चक्की मनुष्य के अन्य सब कुछ को पीसकर केवल मजदूर मात्र शेष रखने का प्रयत्न कर रही है।

धन का धर्म ही असाम्य है। ज्ञान, धर्म, कला, सौन्दर्य का पाँच लोगो को बाट देने से वह बढते ही हैं, कम नही होते, परन्तु धन नामक पदार्थ पाँच लोगों के समीप से शोषण द्वारा लेकर, पाँच लोगो के हाथ से उसकी रक्षा न करने पर वह नही टिकपाता। इस लिये धन कामी व्यक्ति अपनी गरज से दारिद्रय की सृष्टि करता रहता है।

इसी लिये धन के वैषम्य को लेकर जब समाज मे पार्थक्य होता है, तब धनियो का दल उस पार्थक्य को जड से मिटा देने की इच्छा नही करता, अथच वही पार्थक्य जब विपद्-जनक हो उठता है, तब विपत्ति को किसी तरह रुकावट डालकर रोके रखना चाहता है।

इसीलिए, उस देश मे श्रमजीवियो का दल जितना ही घुमड-घुमड कर उठता है, उतना ही उन्हें भूख के लिए अन्न न देकर, नीद लाने वाला गीत गाया जाता है; उन्हे थोडा-बहुत यह,वह देकर किसी तरह भुलाये रखने की चेष्टा की जाती है। कोई कहता है, उनके मकानो को कुछ अच्छा बना दो, कोई उनके मकान मे जाकर मीठे मुँह से कुशल क्षेम पूछता है, ठन्ड के दिनो मे कोई अपने उतारे हुये गरम कपडो को उनकी ओर भिजवा देता है।

इस तरह से धन के प्रकाण्ड जाल के भीतर अटक कर जनसाधारण छटपटा उठे हैं। धन का दबाव यदि इतने जोर के साथ उन लोगो के ऊपर न पडता तो वे लोग संघ नही बनाते—और उनका जो कोई अथवा कुछ भी है, वह किसी की खबर मे भी नही आता। इस समय उस देश मे जनसाधारण केवल सेन्सस्—रिपोर्ट मे तालिका मुक्त नही

हैं, वे एक शक्ति हैं। वे अब भिक्षा नहीं माँगते, दावा करते हैं। इसी लिये उनकी बात को देश के लोग अब भूल नहीं पाते हैं, सभी को उन्होंने विषम रूप से चिन्तित कर रक्खा है।

इस बात को लेकर पश्चिम देश में जो सब चर्चाएँ चल रही हैं, हमलोग अखबारों में उन्हें सदैव ही पढ़ते रहते हैं। इससे अचानक कभी कभी हमारी धर्मबुद्धि चौंक पड़ती है। कहती है, तब तो हम लोगों को भी ठीक इसी तरह सोचना चाहिए।

भूल जाते हैं, उस देश में केवल मात्र सोचने के नशे में नहीं सोचा जाता। वह नितान्त ही प्राणों की लाचारी से होता है। इस आलोचना के पीछे बहुत कुछ जानकारी, अनेक उपायों की खोज है। कारण, वहाँ पर शक्ति के साथ शक्ति की लड़ाई चल रही है—जो लोग अक्षम पर अनुग्रह करके चित्त-विनोदन और अवकाश-स्थापन करना चाहते हैं, यह उन लोगों की वही विलास-कला नहीं है।

हमारे देश में जनसाधारण अभी तक स्वयं को जन के रूप में नहीं जानते, इसीलिए जानने भी नहीं देते हैं। हम लोग उन्हें अंग्रेजी-पुस्तकें पढ़कर जानें एवं अनुग्रह करके जानें। उस जानने से उन्हें कोई शक्ति नहीं मिलेगी, फल भी नहीं मिलेगा। उनके अपने अभाव और वेदना उनके अपने निकट विच्छिन्न और व्यक्तिगत है। उनका अकेले का दुःख विराट दुःख के अन्तर्गत है, इसे जान लेने पर ही उनका दुःख सम्पूर्ण समाज के लिए एक समस्या बन सकता था। उस समय समाज, दया करके नहीं, अपनी ही गरज से उस समस्या के समाधान में लग जाता। दूसरे की चिन्ता के बारे में सोचना तभी सच्चा होता है, जब दूसरा हमें चिन्तित बना डालता है। अनुग्रह पूर्वक चिन्तित होने पर बात-बात पर अन्यमनस्क होना पड़ता है और चिन्ता अपनी ओर ही अधिक झुक जाती है।

साहित्य के बारे में भी यही बात लागू होती है। हम लोग यदि

अपनी उच्चता के अभिमान से पुलकित होकर सोचें कि, इन सब साधारण लोगों के लिए हम लोक-साहित्य का सृजन करेंगे, तो ऐसी वस्तु को ले आएंगे जिसे विदा करने के लिए देश मे टूटे सूप भी बहुमूल्य हो उठेंगे। यह हम लोगों की क्षमता मे नहीं है। हम लाग जिस तरह दूसरे आदमी का मुँह बन कर नही खा सकते, उसी तरह हम दूसरे मनुष्य का प्रतिरूप बनकर नही बच सकते। साहित्य जीवन का स्वाभाविक प्रकाश है, वह प्रयोजन का प्रकाश नही है। सदैव से लोक-साहित्य की लोग स्वय ही सृष्टि करते आ रहे हैं। दयालु बाबुओ के ऊपर अपने काम का बोझ डाल कर वे हमारे कॉलिज के दो मजिले मकान की ओर टकटकी लगाये नही बैठे हैं। सब प्रकार के साहित्य की जैसी है, लोक साहित्य की भी वैसी ही दशा है अर्थात् इसमे भली बुरी, मध्यम श्रेणी की सभी जातियों की वस्तु है। इनम जो अच्छाई है वह अपने प्रकार की अच्छाई है—ससार की किसी रसिक-सभा मे उसे तनिक भी लज्जित होने का कारण नही है। अतएव, दया के वशीभूत होकर हमारे कालिज के किसी डिग्रीधारी को ही लोक साहित्य का सरक्षक बनना शोभा नही देगा। स्वय विधाता भी अनुग्रह के बल पर ससार की सृष्टि नही कर पाते, उन्होने अहैतुक आनन्द के वशीभूत हो कर ही सब कुछ की रचना की है। जहा पर भी हेतु आकर सरक्षक बन बैठना है, उसी जगह सृष्टि मिट्टी हो जाती है। एव जहाँ पर भी अनुग्रह आकर सब से बडा आसन ग्रहण कर लेता है, वही से कल्याण विदा ले लेता है।

हमारा आद्रसमाज आराम मे है, क्योंकि हमारे जन-साधारण स्वय को समझते ही नही। इसीलिए जमीदार उन्हे मारते हैं, महाजन उन्ह पकडते हैं मालिक उन्हें गाली देते हैं, पुलिस उनका शोषण करती है, गुरु महाराज उनके माथे पर हाथ फेरते है, मुख्त्यार उनकी गाठ काटते हैं, और वे लोग केवल उसी अदृष्ट की शिकायत करते हैं, जिसके नाम सम्मन जारी करने की सामर्थ्य नहीं है। हमलोग बडे जोर से धर्म की

दुहाई देकर जमींदार से कहते हैं, अपना कर्तव्य करो, महाजन से कहते हैं, अपनी ब्याज कमाओ', पुलिस से कहते हैं, 'तुम अन्याय मत करना' इस तरह नितान्त दुर्बलभाव से कितने दिन किस ओर ठहरेंगे। चलनी मे पानी भरकर मँगाना और वाहक से कहना 'जहाँ तक हो सके, अपना हाथ लगाकर छेदों को सभालो'—ऐसा नही हो सकता, उससे किसी एक समय मे एक क्षण भर का काम चल जाता है, परन्तु चिर काल के लिये यह व्यवस्था नहीं है। समाज मे दया की अपेक्षा दायित्व की शक्ति अधिक है।

अतएव सब से पहले वह करना है, जिससे लोग आपस मे से एक सम्बन्ध अनुभव कर सकें। अर्थात् उनके बीच आपस मे एक रास्ता रहना चाहिए। वह यदि राजपथ न हो तो अन्तत: गली का मार्ग ही होना चाहिए।

लिखना पढना सीखना ही यह मार्ग है। यदि ज्ञान-शिक्षा की बात कहूँ तो उससे तर्क उठेगा, हमारे किसान-मजदूर भजन मडली और कथा-कीर्तन वालो की कृपा से ज्ञान-शिक्षा मे सब देशों से अग्रगण्य है। यदि उच्च शिक्षा की बात कहू। तो उससे जड-समाज मे एक जोर का अट्टहास्य उठेगा—उससे भी सह लेता, यदि शीघ्र ही इस प्रस्ताव की कोई उपयोगिता रहती।

'मैं परन्तु सबसे कम ही कह रहा हूँ, केवल मात्र लिखना-पढना सीखजाना। वह कोई लाभ नही है, वह केवल मात्र रास्ता है—वह भी गँवई गाँव का कच्चा रास्ता है। आपातत यही यथेष्ट है, क्योंकि इस रास्ते के न होने से ही मनुष्य अपने कोने मे स्वय बन्द बना रहता है। उस समय उसे भजन-कथा के द्वारा सांख्य योग, वेदान्त, पुराण, इतिहास सब कुछ सुनाये जा सकते हैं। उसके आँगन मे हरिनाम सकीर्तन की धूम भी हो सकती है, परन्तु यह बात स्पष्टरूप से समझने का उपाय नहीं रहता कि वह अकेला नहीं है उसका योग केवलमात्र आध्यात्म योग नहीं है एक विशाल लौकिक योग है।

दूर के साथ निकट का, अनुपस्थित के साथ उपस्थित का सम्बन्ध-पथ सम्पूर्ण देश के भीतर अबाधरूप से विस्तीर्ण होने पर ही तो देश की अनुभवशक्ति व्याप्त हो सकेगी। मन की चलाचली जितनी है, मनुष्य उतना ही बडा है। मनुष्य को शक्ति देने के लिए मनुष्य को विस्तृत बनाना चाहिये।

इसीलिए मैं यह कहता हूँ, लिखना पढना सीखकर मनुष्य क्या सीखेगा और कितना सीखेगा, वह बाद की बात है, परन्तु वह दूसरे की बात स्वय ही सुनेगा और अपनी बात दूसरे को सुनायेगा, इस तरह से वह अपने भीतर वृहत् मनुष्य को और वृहत् मनुष्य के भीतर अपने को पायेगा, उसकी चेतना का अधिकार चारो ओर प्रशस्त हो जायगा, यही प्रारम्भिक बात है।

यूरोप मे जनसाधारण ने जो आज एक (सङ्गठित) हो उठने की शक्ति प्राप्त की है, उसका कारण यह नही है कि वे लोग सभी परम पण्डित हो गए हैं। शायद हमारे देशाभिमानी लोग प्रमाणित कर सकते हैं कि पराविद्या कहने से जो बात समझी जाती है, हमारे देश के साधारण लोग भी उसे उनकी अपेक्षा अधिक समझते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नही है कि यूरोप के साधारण लोगो ने लिखना पढना

लोक हितैषीजन कहेंगे, 'हम लोग तो उसी काम मे लगे हुए हैं, हम लोगो ने तो 'नाइट स्कूल' खोले हैं।' परन्तु भिक्षा के द्वारा कोई कभी भी समृद्धि प्राप्त नही कर पाता। हम भद्र लोग जिस शिक्षा को प्राप्त करते हैं, उस पर हमारा अधिकार है, कहकर हम अभिमान करते हैं—वह हमारे लिए दान की हुई, अनुग्रह की हुई वस्तु नही है, परन्तु उससे वंचित करना हमारे प्रति अन्याय करना है। इसीलिए हमारी शिक्षा-व्यवस्था मे कोई कमी होते ही हम लोग उत्तेजित हो उठते हैं। हम लोग सिर उठाकर शिक्षा का दावा करते हैं। वह दावा ठीक शारीरिक बल मे नहीं है, वह धर्म के बल पर है। परन्तु जनसाधारण भी उसी बल के दावेदार हैं। जब तक उनकी शिक्षा की व्यवस्था नही होती

दूर के साथ निकट का, अनुपस्थित के साथ उपस्थित का सम्बन्ध-पथ सम्पूर्ण देश के भीतर अबाधरूप से विस्तीर्ण होने पर ही तो देश की अनुभवशक्ति व्याप्त हो सकेगी। मन की चलाचली जितनी है, मनुष्य उतना ही बडा है। मनुष्य को शक्ति देने के लिए मनुष्य को विस्तृत बनाना चाहिये।

इसीलिए मैं यह कहता हूँ, लिखना-पढना सीखकर मनुष्य क्या सीखेगा और कितना सीखेगा, वह बाद की बात है, परन्तु वह दूसरे की बात स्वय ही सुनेगा और अपनी बात दूसरे को सुनायेगा, इस तरह से वह अपने भीतर बृहत् मनुष्य को और बृहत् मनुष्य के भीतर अपने को पायेगा, उसकी चेतना का अधिकार चारों ओर प्रशस्त हो जायगा, यही प्रारम्भिक बात है।

यूरोप मे जनसाधारण ने जो आज एक (सङ्गठित) हो उठने की शक्ति प्राप्त की है, उसका कारण यह नही है कि वे लोग सभी परम पण्डित हो गए हैं। शायद हमारे देशाभिमानी लोग प्रमाणित कर सकते हैं कि पराविद्या कहने से जो बात समझी जाती है, हमारे देश के साधारण लोग भी उसे उनकी अपेक्षा अधिक समझते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नही है कि यूरोप के साधारण लोगो ने लिखना-पढना सीखकर एक दूसरे के समीप पहुँचने का उपाय प्राप्त कर लिया है, हृदय से हृदय मे गतिविधियो की एक बडी बाधा दूर हो गई है। यह बात निश्चित सत्य है कि यूरोप मे लोक शिक्षा आपातत अगभीर होने पर भी वह यदि व्याप्त न होगी, तो आज वहाँ पर जन-साधारण नामक जो सत्ता अपनी शक्ति के गौरव से जाग्रत होकर अपने प्राप्य का दावा कर रही है, उसे देखा नहीं जा सकता था। वैसा होने पर जो गरीब होते, वे क्षण क्षण पर धनी का प्रसाद प्राप्त कर ही कृतार्थ होते, जो भृत्य होते, वे अपने स्वामी के चरणों के समीप सिर रख कर पडे रहते एवम् जो मजदूर होते, वे महाजन लाभ के उच्छिष्ट-कण मात्र को खा कर ही क्षुधा दग्ध पेट के एक कोने मात्र को भरते रहते।

लोक हितैषीजन कहेंगे, 'हम लोग तो उसी काम मे लगे हुए हैं, हम लोगो ने तो 'नाइट स्कूल' खोले हैं।' परन्तु भिक्षा के द्वारा कोई कभी भी समृद्धि प्राप्त नही कर पाता। हम भद्र लोग जिस शिक्षा को प्राप्त करते हैं, उस पर हमारा अधिकार है, कहकर हम अभिमान करते हैं—वह हमारे लिए दान की हुई, अनुग्रह की हुई वस्तु नही है, परन्तु उससे वंचित करना हमारे प्रति अन्याय करना है। इसीलिए हमारी शिक्षा-व्यवस्था मे कोई कमी होते ही हम लोग उत्तेजित हो उठते हैं। हम लोग सिर उठाकर शिक्षा का दावा करते हैं। वह दावा ठीक शारीरिक बल से नही है; वह धर्म के बल पर है। परन्तु जनसाधारण भी उसी बल के दावेदार हैं। जब तक उनकी शिक्षा की व्यवस्था नही होती है, तब तक उनके प्रति अन्याय जमा होता जा रहा है एवं उस अन्याय का फल हम मे से प्रत्येक भोग रहा है, यह बात जब तक हम स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक दया करके उन लोगों के लिए एकाध नाइट-स्कूल खोल देने से कुछ नही होगा। सबसे पहली आवश्यकता है, जनसाधारण की जन के रूप मे निश्चित रूप से गणना करना।

परन्तु समस्या यही है कि दया करके गणना करना नहीं ठहर पाता। वे लोग शक्ति प्राप्त करके जिस दिन गणना करायेंगे, उसी दिन समस्या का समाधान होगा। वह शक्ति जो उनमे नही है, इसका कारण है, वे लोग अज्ञान से विच्छिन्न हैं। राष्ट्र-व्यवस्था यदि उन लोगों के मन का मार्ग, उन लोगो के सम्पर्क का मार्ग नही खोलती, तो दयालु लोगों का 'नाइट स्कूल' खोलना आंसू बरसाकर, अग्नि-दाह का निवारण करने की तरह होगा। कारण यह लिखना-पढना सीखना तभी यथार्थ रूप मे काम आयेगा। जब वह देश के भीतर सर्वव्यापी हो जायगा। सोने की अंगूठी अंगूठे के नाप की होने पर भी अच्छी लगती है, परन्तु एक कपड़ा उस नाप का हो तो वह हँसी के लिए भी निहायत छोटा हो जायगा—शरीर को एक आवरण मे आवृत कर पाने पर ही

वह काम का जान पडता है। सामान्य लिखना-पढना सीखने की वात दो-चार लोगो मे वँधकर रह जाने से मूल्यवान वस्तु नही हो पाती, परन्तु जनसाधारण के भीतर व्याप्त होने पर वह देश की लज्जा की रक्षा कर सकती है।

पहले ही कह चुका हू, शक्ति के साथ शक्ति की जान पहिचान हो जाने पर ही वह सच्चा कारवार वनती है। इस सच्चे कारवार में दोनों पक्षो का कल्याण है। यूरोप मे श्रमजीवी लोग जितने शक्तिशाली वन गये हैं, वहाँ के व्यवसाइयो पर उतना ही जवाबदेही का दायित्व आ पडा है। इससे दोनो पक्षो का सम्वन्ध सच्चा हो जायगा—अर्थात् जो निरन्तर सहन करेगा, वही खडा हो जायगा, वही दोनो पक्षो के लिए कल्याणकर है। स्त्रियो को साध्वी रखने के लिए पुरुष ने समस्त सामाजिक शक्तियो को उनके विरुद्ध खडा कर रक्खा है—इसीलिए स्त्रियो के समीप पुरुषों को कोई जवाबदेही नहीं है—इसी से स्त्रियों के साथ सम्वन्ध रखने मे पुरुप पूर्णरूपेण का पुरुष वनकर खडा हुआ है; स्त्रियों की अपेक्षा इसमे पुरुषो की हानि वहुत अधिक है। कारण, दुर्बल के साथ व्यवहार करने जैसा दुर्गतिपूर्ण कार्य और कुछ नहीं है। हमारे समाज ने जनसाधारण को जो शक्ति हीन वना रक्खा है, वहाँ पर वह अपनी ही शक्ति का अपहरण कर रहा है। दूसरे का अस्त्र निकाल लेने पर अपना अस्त्र निर्भय होकर उच्छृखल वन जाता है—यहीं पर मनुष्य का पतन है।

हमारे देश के जन साधारण आज जमीदार के, महाजन के, राज-पुरुषो के, मोटे तौर पर सभी भद्र लोगों की दया की अपेक्षा रखते हैं; इससे उन्होने भद्र लोगो को नीचा कर दिया है। हम लोग नौकर को अनायास ही मार सकते हैं, गरीव मूर्ख को अनायास ही ठग सकते हैं— निम्न लोगो के साथ न्याय का व्यवहार करना, मान हीनो के साथ शिष्टाचार करना नितान्त ही हमारी इच्छा

के ऊपर निर्भर रहता है, दूसरे पक्ष की शक्ति के ऊपर नहीं रहता—इस निरन्तर सकट से स्वय को बचाने के लिए ही हमे जरूरत आ पडी है, निम्न श्रेणी के लोगो को शक्तिशाली बनाने की। उस शक्ति को देते ही उनके हाथ मे एक ऐसा उपाय दे दिया जायगा, जिससे क्रमशः वे लोग परस्पर सम्मिलित हो सकेंगे—वह उपाय है सब लोगो को लिखना-पढना सिखाना।

शूद्र धर्म

मनुष्य जीविका के लिए अपने सुयोग के अनुसार अनेक काम करता रहता है। साधारणत उन कामो के साथ धर्म का सम्बन्ध नही होता, अर्थात् उसके कर्तव्य को प्रयोजन की अपेक्षा अधिक मूल्य नहीं दिया जाता।

भारतवर्ष मे किसी दिन जीविका को धर्म के साथ सयुक्त किया गया था। उससे मनुष्य को विनम्र बना दिया था। अपनी जीविका के क्षेत्र को उसकी सम्पूर्ण सकीर्णता के साथ मनुष्य सहज ही ग्रहण कर लेता है।

जीविका निर्वाचन के सम्बन्ध मे इच्छा की ओर से जिन्हें कोई बाधा नहीं होती, अधिकाश जगहों पर भाग्य के कारण उन्हें बाधा पहुँचती है। जो मनुष्य राजमत्री होने का स्वप्न देखता है काम के समय उसे राजा के बिस्तर बिछाने वाले का काम करना पडता है। ऐसी अवस्था मे काम के भीतर ही भीतर उसका विद्रोह ठहरना नही चाहता।

कठिनाई यह है कि, राजससार मे बिस्तर बिछाने वाले के काम की आवश्यकता है, परन्तु राजमत्री के पद का ही सम्मान है। यही क्यो, जिस स्थान पर उसका पद ही है, काम नही है, वही भी वह अपने खिताब को लेकर सम्मान की माँग करता है। बिस्तर बिछाने वाला इस ओर मेहनत करता करता हैरान हो जाता है और मन ही मन सोचता है, उसके प्रति दैव का अन्याय है। पेट के दाप से अगत्य [illegible] को स्वीकार कर लेता है, परन्तु क्षोभ नहीं मिटता।

इच्छा की स्वाधीनता के पक्ष मे भाग्य भी यदि सहयोग देता, सभी बिस्तर बिछाने वाले यदि राजमत्री बन जाते, उस स्थिति मे मन्त्रणा का काम अच्छी तरह से चलता, ऐसा नही है, बिस्तर बिछाने वाले का काम भी एकदम बन्द हो जाता।

देखा जाता है, बिस्तर बिछाने वाले का काम अत्यावश्यक है, अथच बिस्तर बिछाने वाले के लिए वह असन्तोष जनक है। ऐसी अवस्था मे बाध्य होकर काम करना अपमानजनक है।

भारतवर्ष ने इस समस्या का समाधान किया था वृत्ति भेद को वशानुक्रम से पक्का करके। राज शासन मे यदि पक्का किया जाता तो उसमे दासत्व की अवमानना रहती एव भीतर-ही-भीतर विद्रोह की चेष्टा कभी नहीं रुक पाती। पक्का हुआ धर्म के शासन मे। कहा गया, एक एक जाति का एक एक काम उसके धर्म का ही अङ्ग है।

धर्म हम से त्याग की माँग करता है। उस त्याग मे हमारी हीनता नहीं है, हमारा गौरव है। धर्म ने हमारे देश मे ब्राह्मण, शूद्र सभी को कुछ-न कुछ त्याग का परामर्श दिया है। ब्राह्मण को भी अनेक भोग-विलास और प्रलोभन त्यागने का उपदेश दिया गया था। परन्तु, उसके साथ ही ब्राह्मण ने प्रचुर सम्मान पाया था। उसे पाये बिना समाज मे वह अपना काम कर ही नहीं सकता था। शूद्र ने भी यथेष्ट त्याग स्वीकार किया था, परन्तु सम्मान नहीं पाया। फिर भी, उसने कुछ पाया हो या न पाया हो, धर्म के लिए हीनता स्वीकार करने मे भी उसके लिए एक आत्म-प्रसाद है।

वस्तुत. जीविका-निर्वाह को धर्म की श्रेणी मे रखना तभी चलता है, जब अपनी आवश्यकता से भी ऊपर समाज की आवश्यकता का लक्ष्य रहता है। ब्राह्मण भात में भात सानकर, बाह्य दीनता को स्वीकार करके, समाज के आध्यात्मिक आदर्श को समाज के भीतर यदि विशुद्ध बनाये रखता है—तो उसके द्वारा उसकी जीविका का निर्वाह होने पर

भी, यह जीविका की अपेक्षा बड़ा है—यह धर्म है। किसान यदि खेती न करे तो समाज एकदिन भी नही टिक सकता। अतएव किसान अपनी जीविका को यदि धर्म के रूप मे स्वीकार करता है तो इस बात को झूठ नही कहा जा सकता। अथच, ऐसी मिथ्या सान्त्वना उसे कोई नही देता कि खेती करने का काम ब्राह्मण के काम के सम्मान मे बराबर है। जिन सब कामो मे मनुष्य की उच्चतर वृत्ति लगती है, मानव-समाज मे स्वाभाविक रूप से उसका सम्मान शारीरिक काम की अपेक्षा अधिक है, यह बात सुस्पष्ट है।

जिस देश मे जीविकोपार्जन को धर्म-कर्म के साथ मिलाकर नहीं देखा जाता, उस देश मे भी निम्न-श्रेणी का काम बन्द हो जाने पर समाज का सर्वनाश हो जाता है। अतएव वहाँ पर भी अधिकांश लोगो को वही काम करना ही पड़ता है। सुयोग की सकीर्णतावश उस तरह का काम करने वाले लोगो का अभाव नही हो पाता, इसीलिए समाज टिका हुआ है। आजकल कभी कभी जब वहाँ के श्रमजीवी लोग समाज की उस गरज की बात को सिर हिलाकर समाज के निष्कर्मा अथवा परासक्त अथवा बुद्धिजीवियो को जता देते हैं, उस समय समाज मे एक भूकम्प उपस्थित हो जाता है। उस समय वहीं पर तो कड़े राज्यशासन और कहीं पर उनकी अर्जी को मजूर करके समाज की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है।

हमारे देश मे वृत्तिभेद को धर्म शासन के अन्तर्गत कर देने से, इस प्रकार असन्तोष और विप्लव चेष्टा के प्रारम्भ को ही नष्ट कर दिया गया है। परन्तु ऐसा कर देने से जातिगत कर्मधाराओ का उत्कर्ष साधन हुआ है या नही; यह सोचकर देखने का विषय है।

जो सब काम बाह्य-अभ्यास के नही हैं, जो बुद्धि-मूलक विशेष क्षमता के द्वारा ही साधित हो सकते हैं, वे व्यक्तिगत न होकर, वंशगत हो ही नही सकते। यदि उन्हे वंश मे आबद्ध कर दिया जाय तो फिर

क्रमशः उसके प्राण मर जाने पर वाहरी ठाठ ही बडा हो उठता है। ब्राह्मण की जो साधना आन्तरिक है, उसके लिए व्यक्तिगत शक्ति और साधना की आवश्यकता है; जो केवल मात्र अनुष्ठानिक है, वह सहज है। आनुष्ठानिक आचार वंशानुक्रम से चलते-चलते उसका अभ्यास पक्का और दम्भ प्रबल हो सकता है, परन्तु उसकी असल वस्तु के मर जाने से सब आचार अर्थ-हीन बोझ बन कर जीवन-पथ पर विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। उपनयन प्रथा किसी समय आर्य-द्विजो के पक्ष मे सत्य-पदार्थ थी; उसकी शिक्षा, दीक्षा, ब्रह्मचर्य, गुरु गृह-वास, सभी उस समय के भारतीय आर्यों के बीच प्रचलित श्रेष्ठ आदर्शों को ग्रहण करने के लिए उपयोगी थे। परन्तु जो सब उच्च आदर्श आध्यात्मिक हैं, जिनके लिए निरन्तर जागरूक चित्त-शक्ति की आवश्यकता है, वे तो मृत पदार्थ की भाँति कठिन आचार के पैतृक सन्दूक के भीतर बन्द करके रखने के लिए नही हैं, इसीलिए स्वभावत. ही उपनयन प्रथा इस समय प्रहसन बनकर खडी हुई है। उसका कारण है, उपनयन जिस आदर्श का वाहन और चिन्ह है, वह आदर्श ही हट गया है। क्षत्रिय की भी यही दशा है; कहाँ है वह, इसे ढूँढ पाना ही कठिन है। जो लोग क्षत्रिय के रूप मे परिचित हैं, जातकर्म, विवाह आदि अनुष्ठानो के समय मे ही वे लोग क्षत्रियो के कुछ पुराने आचारों का पालन मात्र करते हैं।

इधर शास्त्र कहते हैं; स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। इस बात का प्रचलित अर्थ यही रह गया है कि जिस वर्ण का शास्त्र-विदित जो धर्म है, उसका उसे पालन करना होगा। इस बात के कहते ही उसका तात्पर्य यह निकलता है धर्म-अनुशासन के जितने अंश का अन्धभाव से पालन किया जा सकता है, उसका प्राणपण से पालन करना होगा—उसका कोई आयोजन रहे या न रहे, उससे अकारण ही मनुष्य की स्वाधीनता की सर्वता घटे तो घटती रहे, उसकी हानि होतीहै तोहोती रहे। अन्ध आचार के अत्याचार बहुत अधिक होते हैं। उनके निकट भले-बुरे

का आन्तरिक मूल्य बोध नही होता। इसीलिए जो पवित्र वायुग्रस्त स्त्री बात-बात पर स्नान करने दौडती है, वह अपनी अपेक्षा अनेक भले लोगो को बाह्य पवित्रता की तुलना मे घृणा का पात्र समझने मे द्विधा अनुभव नही करती। बहुत उसके लिए आन्तरिक साधना का कठिनतर प्रयास अनावश्यक है। इसीलिए अहकार और अन्य के प्रति अवज्ञा से उसके चित्त की अपवित्रता होती है। इसी कारण से आधुनिक काल मे जो लोग बुद्धि विचार को जलाजलि देकर समाज के कर्त्ताओ के मतानुसार स्वधर्म का पालन करते हैं, उनका औधत्य इतना दु:सह, अथच इतना निरर्थक होता है।

अथच जातिगत स्वधर्म का पालन करना बहुत सहज है। जहाँ पर उस स्वधर्म के भीतर चित्तवृत्ति का स्थान नही है। वंशानुक्रम से हाँडी तैयार करना अथवा घानी से तेल बाहर निकालना अथवा उच्चतर वर्ण की दास्यवृत्ति करना कठिन नही है, वरम् उससे मन जितना ही मर जाता है, काम उतना ही सहज हो आता है। इन सब हाथ के कामो का भी नूतनता उत्कर्ष-साधन करने के लिए चित्त चाहिए। वशानुक्रम से स्वधर्म का पालन करने पर उसके लिए उपयुक्त चित्त भी शेष नहीं रहता, मनुष्य केवल यन्त्र बनकर एक ही कर्म की पुनरावृत्ति करता रहता है। जो भी हो, आज भारतवर्ष मे विशुद्धभाव से स्वधर्म पर टिके हुए हैं, केवल शूद्र लोग। शूद्रत्व मे उन्हे असन्तोष नही है। इसीलिए भारतवर्ष के-नीम का जीर्ण-देश मे-लौटना अंग्रेज गृहणियो के मुँह से अनेक बार सुना है, स्वदेश मे आकर भारतवर्ष के नौकरो का अभाव वे बहुत अधिक अनुभव करती हैं। धर्म शासन मे वशानुक्रम से जो लोग नौकर बने हैं, उन जैसा नौकर पृथ्वी पर कहाँ मिल सकेगा ? लात-घूँसा बरसने पर भी वे लोग स्वधर्म की रक्षा करने मे कुंठित नही होते। उन्होंने तो किसी भी काल मे सम्मान की माँग नही की, पाया भी नहीं, वे लोग केवल शूद्र धर्म की अत्यन्त विशुद्ध भाव से रक्षा

करते हुए ही स्वय को कृतार्थ समझते रहे हैं। आज यदि वे लोग विदेशी शिक्षा को पढ पड कर आत्म विस्मृत होते हैं, तो समाजपति उनकी स्पर्धा के बारे मे आक्रोश प्रकट करते हैं।

स्वधर्मरत शूद्रोकी सख्या ही भारतवर्ष में सबसे अधिक है, इसीलिए एक ओर से देखने पर भारतवर्ष शूद्रधर्म का ही देश है। इसके अनेक प्रमाण इतिहास मे मिले हैं। इस अति प्रकाण्ड शूद्रधर्म के जड़त्व के आकर्षण से भारत के समस्त हिन्दू सम्प्रदाय का मस्तक झुकता चला आ रहा है। बुद्धि साध्य, ज्ञान-साध्य जिस किसी भी महासम्पत्ति लोभ की साधना हम आज करना चाहें, उसे इस प्रबल शूद्र बभार को हटाकर ही करना पडेगा—उसके बाद उस सम्पत्ति की रक्षा करन का भार भी इस असीम अन्धता के हाथ मे समर्पित कर देने के अतिरिक्त अन्य उपाय नही है। यह बात ही हम लोगों के सोचने की बात है।

इस शूद्रप्रधान भारतवर्ष की सब से बडी दुर्गति की जो तस्वीर देखने को मिलती है, उसी परम आक्षेप की बात को कहने के लिए बैठी है।

पहली बार जब जापान के मार्ग मे हागकाग के बन्दरगाह पर अपना जहाज लगा देखा, वहाँ घाट पर एक पजाबी पहरेदार ने अति तुच्छ कारण से एक चीनी स्त्री की चोटी पकड कर उसे लात मारदी। मेरा मस्तक झुक गया। अपने देश में राज्य भृत्य के लाछन धारियों द्वारा स्वदेशियों के प्रति इस तरह की अनुचित-दुर्गति बहुत देखी, दूर समुद्र-तट पर जा कर भी वही देखा। देश विदेश मे ये लोग शूद्रधर्म का पालन कर रहे हैं। चीन को अपमानित करने का भार अपने मालिक की ओर से इन्होने ग्रहण किया है, उस बारे मे य लोग कोई विचार ही नही करना चाहते, क्योंकि ये लोग शूद्र धर्म की हवा मे पले हैं। नमक की स्वाभाविक माँग जितनी दूर तक पहुँ-

चली है, ये लोग सहज ही उसे बहुत दूर तक लांघ जाते हैं, उसमे आनंद पाते हैं, गर्व का अनुभव करते हैं।

चीन के पास से अंग्रेज लोग जब हांगकांग को निकाल लाने के लिए गये थे, तब इन्हीं ने चीन को मारा था। चीन की छाती में इन्हीं लोगों के अस्त्र के चिन्ह बहुत से हैं—उसी चीन की छाती म, जिस चीन ने अपने हृदय के भीतर भारतवर्ष के बुद्धदेव के पद चिह्न धारण किए थे, वही ईत्सिंग ह्वेन सांग का चीन।

मानव-विश्व के आकाश में आज युद्ध के काले बादल चारों ओर घिरे आ रहे हैं। इस ओर पॅसिफिक के किनारे अंग्रेजो का तीक्ष्ण-चंचु खर-नख-दारुण श्येन-तरणी का नीड निर्मित हो रहा है। पश्चिम महादेश में दिशा-दिशाओं मे कोलाहल उठ रहा है कि एशिया की अस्त्रशाला में शक्ति शेल की तैयारी चल रही है, यूरोप के मर्म की ओर उसका लक्ष्य है। रक्त-मोक्षण-क्लान्त पीड़ित एशिया भी क्षण क्षण पर अस्थिरता के लक्षण दिखा रहा है। पूर्व महादेश के पूर्वतम प्रान्त मे जापान जग गया है, चीन भी उसकी दीवाल के चारों ओर सेंध काटने के शब्द से जगन का उपक्रम कर रहा है। शायद किसी दिन यह विराट् काय जाति अपने बन्धन तोड़ कर उठ खड़ी होने का प्रयत्न करेगी, शायद किसी दिन उसकी अफीम से अविष्ट देह बहुकालीन विष को झाड़-झूड़ कर अपनी शक्ति को उपलब्ध कर सकेगी। चीन की थैली-झोली में जो लोग छेद करने लगे हैं,

है। वह कहेगा; स्वधर्मे हननं श्रेयः स्वधर्मे निधनं श्रेयः। अंग्रेज-साम्राज्य में कहीं भी उसने सम्मान चाहा भी नहीं, पाया भी नहीं; अंग्रेजों का होकर वह कुलीगीरी का बोझ ढोता हुआ मर रहा है, जिस बोझ के भीतर उसका अर्थ नहीं है, परामर्श नहीं है, अंग्रेज होकर वह दूसरे को पीछा करते हुए मारने के लिए जाता है, वह दूसरा उसका शत्रु नहीं है; काम पूरा होता ही फिर डांट खाकर तोपा खाने के भीतर घुस जायगा। शूद्र की यही तो बहुकालीन दीक्षा है। उसके काम में स्वार्थ भी नहीं है, सम्मान भी नहीं है। है केवल स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यही वाणी। निधन का अभाव नहीं हो रहा है; परन्तु मनुष्य की उससे भी अधिक बड़ी दुर्गति है, जब वह दूसरे के स्वार्थ का वाहन बन कर दूसरे का सर्वनाश करने को ही अनायास अपना कर्तव्य समझ लेता है। अतएव इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि, यदि दैवक्रम से किसी दिन ब्रिटेनिया भारतवर्ष को खो दे तो निःश्वास छोड़ता हुआ कहेगा। I miss my best servant.

———

शक्ति पूजा

वातायनिक के पत्र मे मैंने शक्ति पूजा की जो चर्चा की थी, उस बारे मे सामयिक-पत्र मे एकाधिक लोगों ने प्रतिवाद लिखे हैं।

हमारे देश मे शिव एवं शक्ति के स्वरूप के बारे मे दो धारायें देखने को मिलती हैं। उनमे से एक को शास्त्रीय और दूसरी को लौकिक कहा जा सकता है। शास्त्रीय शिव यती हैं, वैरागी हैं। लौकिक शिव उन्मत्त हैं, उच्छृखल हैं। वङ्गला के मङ्गलकाव्यो मे इन लौकिक शिव का ही वर्णन देखने को मिलता है। यही क्यो, राज सभा के कवि भारतचन्द्र के 'अन्नदा मगल' मे शिव का जो चरित्र वर्णित है, वह आर्य-समाज सम्मत नही है।

शक्ति की जो शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या दी जाती है, उसे मैं स्वीकार किए लेता हूँ। परन्तु वंगला के मगल काव्यो मे शक्ति का जो स्वरूप वर्णित हुआ है, वह लौकिक है और उसका भाव अन्य प्रकार का है। ससार मे जो लोग पीड़ित हैं, जो लोग पराजित हैं, अथच इस पीडा और पराजय का जो लोग कोई धर्म-सगत कारण नही देख पाते, उन्होने स्वेच्छाचारिणी निष्ठुर शक्ति के अनुचित क्रोध को ही सब दुखो के कारण रूप मे ग्रहण कर लिया है—और उस ईर्ष्यापरायण शक्ति को स्तव के द्वारा, पूजा के द्वारा, शान्त करने की आशा ही इन सब मगल-काव्यो की प्रेरणा है।

प्रचण्ड देवता के यथेच्छाचार की विभीषिका मानव-जाति की प्रथम पूजा के मूल में दिखाई पडती है। उसका कारण है, मनुष्य ने तब तक

विश्व के मूल मे विश्व-नियमो को नही देख पाया था एव उस समय वह सर्वदा ही भयविपत्तियो के द्वारा घिरा हुआ था । उस समय शक्तिमान का आकस्मिक ऐश्वर्य लाभ सदैव ही आंखो मे गिरता था एवम् आकस्मिकता का ही प्रभाव मानव-समाज मे सबसे अधिक उग्रभाव मे दृश्यमान था ।

जिस समय मे कविकंकण-चण्डी ने 'अन्नदामंगल' को लिखा था, उस समय मे मनुष्य का आकस्मिक उत्थान-पतन आश्चर्यजनक रूप मे प्रकट होता था । उस समय चारो ओर शक्ति के साथ शक्ति का संघात चलता था और किसके भाग्य मे किस दिन क्या है, उसे कोई नही कह पाता था । जो व्यक्ति शक्तिमान की ठीक प्रकार से स्तुति करना जानता था । जो व्यक्ति सत्य-मिथ्या, न्याय-अन्याय का विचार नही करता था, उसकी समृद्धि लाभ का दृष्टान्त उस समय सर्वत्र प्रत्यक्ष था । चण्डीशक्ति को प्रसन्न करके उसे अपने व्यक्तिगत इष्ट लाभ के अनुकूल करना, उस समय अन्ततः एक श्रेणी की धर्म साधना का प्रधान अंग था, उस समय के धनी-मानी लोग ही विशेषकर इस श्रेणी मे युक्त थे, क्योंकि उस समय शक्ति की आंधी उनकी अत्यन्त ऊँची चोटी के ऊपर ही विशेष रूप से आघात करती थी ।

शास्त्र म देवता का जो स्वरूप वर्णित हुआ है, वही आदिम है और लौकिक ही आधुनिक है, यह बात विशिष्ट प्रमाण के अतिरिक्त नही मानी जा सकती । मेरा विश्वास है, अनार्यों के देवता को एक दिन आर्य-भाव के द्वारा शोधन करके स्वीकार कर लेने का समय भारतवर्ष मे उपस्थित हुआ था । उस समय मे जिन सब देवताओ ने भारतवर्ष के साधु समाज में प्रवेश किया था, उनके चरित्र की असंगति एकदम ही दूर नही हो सकी, उनके भीतर आज भी आर्य और अनार्य की दो धारायें मिश्रित चली आ रही हैं और लौकिक व्यवहार मे उस अनार्य-धारा की ही अधिक प्रबलता है ।

ईसाई धर्म के विकास मे भी हमें यही बात देखने को मिलती है । यहूदियो के जिहोवा किसी समय मे मुख्यत यहूदी जाति के ही पक्षपाती

कथा किसी विशेष शास्त्र मे निगूढ है या नही, वह मेरा आलोच्य विषय नही था। शक्ति पूजा का जो अर्थ लौकिक-विश्वास के साथ जुडा हुआ हैं, उस अर्थ को असङ्गत नही कहा जा सकता; कारण, लोक-प्रचलित कहानी एव रूपक-चिन्ह मे वह अर्थ ही प्रबल है एव सभ्य और बर्बर सभी देशो मे सभी भावो से शक्ति-पूजा चलती है—अनुचित असत्य उस पूजा से लज्जित नही है, लोभ उसका लक्ष्य है एव हिंसा उसके पूजोपचार हैं। यह लोभ बुरा नही है, अच्छा ही है, हिंस्र शक्ति मनुष्यत्व के लिए अत्यावश्यक है—ऐसे सब तर्क शक्ति-पूजक यूरोप मे स्पर्धा के साथ चलते हैं, यूरोप के छात्र के रूप मे हमारे बीच भी चल रहे हैं—उस सम्बन्ध मे मुझे जो कहना है, अन्यत्र वह दिया है। यहाँ पर यही कहना है कि साधारण लोगो के मन मे शक्ति-पूजा के साथ एक नग्न निदारुण भाव, अपने उद्देश्य-साधन के लिए बलपूर्वक दुर्बल की बलि देने का भाव सगत हो गया है, वातायनिक के पत्र मे मैंने उसी का उल्लेख किया है।

परन्तु फिर भी यह बात स्वीकार करना उचित है कि किसी धर्म-साधना का उच्च अर्थ यदि देश के किसी विशेष शास्त्र अथवा साधक के मध्य कथित अथवा जीवित हो, तो उसका सम्मान करना कर्तव्य है। यही क्यो, भूमि परिमित प्रचलित व्यवहार की अपेक्षा उसे बडा कहकर जानना चाहिए। धर्म का परिमाण के द्वारा विचार न करके, उसके उत्कर्ष के द्वारा विचार करना श्रेयस्कर है। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

समाप्त

देवता थे। वे वैसे निष्ठुर, ईर्ष्यापरायण और बलि प्रिय देवता थे, इसे 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' पढ कर ही समझा जा सकता है। वे ही देवता क्रमश यहूदी साधु ऋषियों की वाणी एवम् अन्त मे ईसामसीह के उपदेश से सब मनुष्यों से प्रेम करने वाले देवता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। परन्तु उनमे आज भी जो दो विरोधीभाव मिले हुए हैं, उसे लौकिक व्यवहार मे स्पष्ट देखा जा सकता है। आज भी वे युद्ध के देवता, भागाभागी के देवता, साम्प्रदायिक देवता हैं। अ-ईसाइयो के प्रति ईसाइयो की अवज्ञा और अविचार उनके नाम के बल पर जितने सजीव होते आ रहे हैं, वैसे और किसी से नहीं हैं।

हमारे देश मे साधारणतः शाक्त धर्म-साधना और वैष्णव धर्म-साधना के बीच दो स्वतन्त्र भावो ने प्रधानता प्राप्त की है। एक साधना मे पशु-बलि एव मास-भोजन है, दूसरी साधना मे अहिंसा और निरामिष है—यह नितान्त निरर्थक नहीं है। विशेष शास्त्रो में इस 'पशु' एव अपरापर 'मकार' की जो भी व्याख्या रहे, साधारण व्यवहार मे वह प्रचलित नही है। इसीलिए 'शक्ति' शब्द का जो साधारण अर्थ है, जो अर्थ अनेक चिन्हों से अनुष्ठान में और भावो मे शक्ति पूजा के भीतर ओतप्रोत है एव बगाल देश के मङ्गलकाव्यो मे जो अर्थ प्रचारित हुआ है, मैंने उसी अर्थ को अपनी रचना मे ग्रहण किया था।

एक बात याद रखनी होगी, चोरो का उपास्य देवता शक्ति है, ठगो का उपास्य देवता शक्ति है, कापालिको का उपास्य देवता शक्ति है। एक और भी विचार करने की बात है, पशु-बलि अथवा अपना रक्तपात, यही क्यो, नर-बलि स्वीकार करके मनौती चढ़ाने की प्रथा शक्ति-पूजा में प्रचलित है। झूठे मुकद्दमो मे विजय प्राप्ति से लेकर जातीय शत्रु के विनाश की कामना तक सभी प्रकार की प्रार्थनायें शक्ति-पूजा मे स्थान पाती हैं। एक ओर देवचरित्र की हिंस्रता है, दूसरी ओर मनुष्य की धर्म-विचार-हीन फल-कामना है, इन दोनो का योग जिस पूजा मे है, उससे अधिक बडी शक्ति पूजा की

कथा किसी विशेष शास्त्र में निगूढ है, या नही, यह मेरा आलोच्य विषय नहीं था। शक्ति पूजा का जो अर्थ लौकिक-विश्वास के साथ जुडा हुआ है, उस अर्थ को असङ्गत नही कहा जा सकता; कारण, लोक-प्रचलित कहानी एव रूपक-चिन्ह मे यह अर्थ ही प्रबल है एव सभ्य और बर्बर सभी देशो मे सभी भावो से शक्ति-पूजा चलती है—अनुचित असत्य उस पूजा से लज्जित नहीं है, लोभ उसका लक्ष्य है एव हिंसा उसके पूजोपचार हैं। यह लोभ बुरा नहीं है, अच्छा ही है, हिंस्र शक्ति मनुष्यत्व के लिए अत्यावश्यक है—ऐसे सब तर्क शक्ति पूजक यूरोप मे स्पर्धा के साथ चलते हैं, यूरोप के छात्र के रूप मे हमारे बीच भी चल रहे हैं—उस सम्बन्ध मे मुझे जो कहना है, अन्यत्र कह दिया है। यहाँ पर यही कहना है कि साधारण लोगो के मन मे शक्ति-पूजा के साथ एक नग्न निदारुण भाव, अपने उद्देश्य-साधन के लिए बलपूर्वक दुर्बल की बलि देने का भाव सगत हो गया है, वातायनिक के पत्र मे मैंने उसी का उल्लेख किया है।

परन्तु फिर भी यह बात स्वीकार करना उचित है कि किसी धर्म-साधना का उच्च अर्थ यदि देश के किसी विशेष शास्त्र अथवा साधक के मध्य कथित अथवा जीवित हो, तो उसका सम्मान करना कर्तव्य है। यही क्यो, भूमि परिमित प्रचलित व्यवहार की अपेक्षा उसे बडा कहकर जानना चाहिए। धर्म का परिमाण के द्वारा विचार न करके, उसके उत्कर्ष के द्वारा विचार करना श्रेयस्कर है। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

समाप्त